वर्ष 6, अंक 2 जुलाई, 1990

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संपादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, रमेशचन्द्र शाह

दर्शन प्रतिष्ठान

संपादकीय

1992 में **उन्मीलन** का यह 1990 का दूसरा अंक आपको भेजा जा रहा है । हमारे पिछड़ने के उचित कारण हैं । वास्तव में इस बीच हमने अनेक बार पत्रिका को बन्द करने का भी विचार किया किन्तु इस पत्रिका के उद्देश्य से सहानुभूति रखने वालों के आग्रह के कारण हम यह नहीं कर पाये । बन्द करने के विचार का कारण केवल आर्थिक नहीं था, अभीष्ट स्तर के अभीष्ट संख्या में लेखों का नहीं मिलना भी इसका कारण था, जिसका अर्थ है हमारा अपने उद्देश्य में असफल रहना । हमारा उद्देश्य **मानसिक हिन्दस्वराज** के नव आन्दोलन के प्रति हिन्दियों को सचेत करना और उसमें उन्हें सम्मिलित करना था । किन्तु हमने सखेद पाया कि इस स्वराज के मूलगामी विचार के मूल प्रवर्तक और महाशक्तिशाली महात्मा की असफलता को कुछ कम करने के हमारे इस प्रयास की सफलता की कोई संभावना नहीं है । जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोश से किसी भी शर्त पर ऋण लेते चले जाने में हमें कोई लज्जा नहीं है उसी प्रकार, और उससे भी अधिक निर्लज्जता से हम सांस्कृतिक ऋण ले रहे हैं। और यह तब जब हमारी अपनी सांस्कृतिक धरोहर किसी से कम समृद्ध नहीं है । ऐसे में यह पत्रिका जारी रखने का क्या अर्थ है ? किन्तु तब भी हम इसे बन्द करने का निर्णय भी नहीं कर पा रहे हैं । ऐसी अवस्था में हम एक बार पुनः अपने देशवासियों से हमारे इस अभियान में सम्मिलित होने के लिए आह्वान करते हैं ।

पत्रिका आर्थिक रूप से भी बहुत कठिनाई में है । इसे श्री अशोक वाजपेयी के माध्यम से भारत भवन, भोपाल ने, अनेक वार्षिक/पंचवर्षीय शुल्कों के रूप में डा. (कु.) छाया राय ने, दान के रूप में डा. मुकुंद लाठ तथा राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री टीकाराम पालीवाल ने, विज्ञापनों के रूप में दर्शन एवं साहित्य में रुचि रखने वाले बीकानेर के एक अभियन्ता श्री मानवेन्द्र कुमार ने, आर्थिक सहयोग दिया तो इसका अब तक प्रकाशन हो पाया । किन्तु होना तो यह चाहिए था कि इसकी ग्राहक-संख्या ही इतनी होती कि किसी आर्थिक अनुदान की आवश्यकता ही नहीं होती । किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि जिन्होंने आरम्भ में एक सौ रुपया दिया था उन्हें भी पीछे इसकी अवधि चुक जाने पर आगे देने का ध्यान नहीं आया और जिन्होंने वार्षिक शुल्क दिया उनमें से बहुतों को आगे देने का ध्यान नहीं आया । इसमें प्रश्न केवल पैसे का नहीं है, किसी मूल्य के प्रति प्रतिबद्धता का भी है, और यह वह खेदजनक परिस्थिति है जो बार-बार हमें इस पत्रिका को बन्द कर देने के लिए सोचने को बाध्य कर देती है ।

इस पत्रिका के प्रकाशन के अतिरिक्त हम यहां "उन्मीलन-गोष्ठियों" का

आयोजन भी करते हैं । पिछले अंक के प्रकाशन के बाद हमने 7 गोष्ठियों का आयोजन किया जिनमें से तीन के विषय-प्रवर्तकों के लिखित रूप में प्राप्त लेख इस अंक में दिये जा रहे हैं । ऐसी "उन्मीलन-गोष्ठियों" के आयोजन यदि अन्यत्र भी किये जाएं तो उनमें हुए विचार–विमर्श के विवरण हमें उन्मीलन में प्रकाशित करने में प्रसन्नता होगी ।

अन्त में हम सब मित्रों से अपना वार्षिक अथवा आजीवन शुल्क, और संभव हो तो कुछ अतिरिक्त भी, भेजने के लिए अनुरोध करना चाहेंगे । यदि वे डा. मुकुन्द लाठ के समान, जिन्होंने "लाठ सर्वोदय ट्रस्ट" के माध्यम से हमें 2500/– रुपया दिया, आर्थिक सहयोग के साथ बौद्धिक सहयोग भी दे सकें तो स्वभावतः हम द्विगुणित अनुगृहीत होंगे ।

1

अद्वैत-सिद्धान्त का मूलाधार

नारायण शास्त्री द्राविड़

शङ्कराचार्य ने जिस वेदान्त दर्शन की स्थापना की है वह मायावादी या अद्वैतवादी कहा जाता है जब कि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, भास्कराचार्य आदि के द्वारा प्रस्थापित वेदान्त-संप्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी, ब्रह्मपरिणामवादी आदि समझे जाते हैं। अद्वैतवाद या मायावाद का सरल अर्थ यह है कि समग्र विश्व एक भ्रान्ति या आभास मात्र है और इस आभास के मूल में जो सत्ता है वही वास्तविक सत्य है। इस सत्य के लिए वेदान्त ने 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'अनन्त', याने जो देशतः, कालतः, वस्तुतः तथा गुणतः अपरिच्छिन्न या अमर्याद है। (बृंहत्वात् बृहणत्वात वा ब्रह्म)। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी सत् न होने के कारण ब्रह्म के सजातीय या विजातीय ऐसा कुछ भी नहीं है। ब्रह्म का घटक भी कुछ नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में कोई गुण या धर्म (जो उससे भिन्न हो) नहीं रह सकता, और ब्रह्म सावयव नहीं होने के कारण उस में किसी आन्तरिक भेद की संभावना भी नहीं हो सकती। इस तरह सर्वथा भेद-रहित तथा सर्वथा अपरिच्छिन्न एवं सत्, चित् तथा आनन्द रूप तत्त्वों को अपनी सत्ता में अभिन्नत या समाविष्ट कर लेने वाला परम तत्त्व ही ब्रह्म है जिसके लिए शाङ्कर वेदान्त में "अद्वैत" इस सार्थक संज्ञा या विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह संज्ञा निषेधमुखेन ब्रह्म का निर्देश करती है। 'अद्वैत' के बदले 'एक' शब्द का प्रयोग किया जा सकता था लेकिन जानबूझकर ही ऐसा नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि 'एक' शब्द-प्रतिपाद्य एकत्व भी एक गुण या धर्म है जिसकी ब्रह्म में उपस्थिति उसे परिच्छिन्न बना सकती है। 'एक' शब्द से 'एकमेव' ऐसा बोध नहीं होता। रामानुजाचार्य ब्रह्म या ईश्वर में अनन्त कल्याण-गुणों की सत्ता मानते हैं। किन्तु यह बात शङ्कराचार्य स्वीकार नहीं करते। इसका भी कारण उपरोक्त ब्रह्म-परिच्छेद की संभावना ही है। गुण अनन्त तथा कल्याणरूप होने पर भी उनकी सत्ता, वह गुणरूपेण ही चाहे क्यों नहीं हो, यदि ब्रह्म-सत्ता से भिन्न हो, भले ही वह ब्रह्म-सत्ता-सापेक्ष ही हो, वह ब्रह्म-सत्ता की परिच्छेदक ही होगी। गुणों को अनन्त

कहने या मानने से उनकी गुणी की सत्ता की परिच्छेदकता समाप्त नहीं हो जाती। इस कारण ब्रह्म-सदृश मूल द्रव्य की परम सत्ता का पुरस्कार कर भी इस सत्ता में अनन्त विस्तार तथा अनन्त चेतना रूप गुणों की विद्यमानता प्रतिपादित कर पश्चिमी दार्शनिक स्पिनोज़ा ने अद्वैतवाद-विरोधी भूमिका ही अपनायी है। कुछ विद्वान स्पिनोज़ा के दर्शन में अद्वैतवाद की झलक देखते हैं। किन्तु वास्तव में विशिष्टाद्वैत की दार्शनिक भूमिका ही स्पिनोज़ा के दर्शन में प्रतिबिंबित हुई है। "सभी निर्धारण निषेधात्मक होते हैं" इस सिद्धान्त का पुरस्कारक स्पिनोज़ा गुणों के द्वारा मूल द्रव्य के स्वरूप के निर्धारण को निषेधात्मक अतः मूल द्रव्य की सत्ता का परिच्छेदक यदि नहीं मानता तो उसका अद्वैतवाद व्याघातदोष-युक्त है, ऐसा स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। शाङ्कर वेदान्त में सत्, चित् तथा आनन्द को भी असत्, अचित्, तथा दुःख के परिच्छेदक के रूप में ही ब्रह्म को निर्विशेष सत्ता में समाविष्ट माना गया है। यही अद्वैतवाद का सार है।

अब प्रश्न उठता है कि इस अद्वैतवाद की प्रस्थापना कैसे की जाय? 'अद्वैत-सिद्धि' नामक सुप्रसिद्ध वेदान्तीय ग्रन्थ के आरंभ में ही ग्रन्थ-कर्त्ता मधुसूदन सरस्वती कहते हैं- "अद्वैतसिद्धौ द्वैतमिथ्यात्व-सिद्धि-पूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथमतः उपपादनीयम्।" अर्थात् अद्वैत के द्वैतनिषेधात्मक होने के कारण द्वैत का मिथ्यात्व सिद्ध करने पर ही अद्वैत की स्थापना संभव है। मधुसूदन सरस्वती के उक्त ग्रन्थ में अनुमान के द्वारा द्वैत या विश्व की असत्यता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास के संबंध में कुछ विचार हम आगे प्रस्तुत करेंगे। प्रथम हम अद्वैतवाद से सम्बद्ध कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करेंगे। एक समस्या जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी किसी विचारक ने नहीं उठायी है वह यह है कि क्या विश्व की आनुभविक सत्यता का अपलाप किसी भी तर्क से हो सकता है? यह मान भी लें कि तर्क से विश्व की सत्यता का समर्थन संभव नहीं है, तो भी ऐसी अवस्था में जब विश्व का अनुभव बराबर घटित होता रहता है क्या उसकी प्रमाणता का अस्वीकार उचित होगा? तर्क स्वयं अनुभव नहीं है। वह अनुभवाधारित आनुमानिक पद्धति मात्र है। यदि अनुभव के प्रामाण्य पर ही तर्क आघात करे तो तर्क को ही निराधार मानकर त्याग देना होगा। यह बात एक संदर्भ विशेष में ब्रह्मसूत्र-भाष्य भामती के रचयिता वाचस्पति मिश्र ने ही कह डाली है। उनका कथन इस प्रकार है : "न हि आगमाः शतमपि घटं पटयितु ईशते।" याने सैकड़ों आगम या धर्मग्रन्थों की उक्तियां भी प्रत्यक्षगम्य घट को पट कह कर उसे पट में परिवर्तित नहीं कर सकतीं। इसका तात्पर्य यह है कि तर्क या कुतर्क से सत्य को असत्य भले ही सिद्ध किया जाय सत्य की सत्यता उससे खण्डित नहीं होती। यह तथ्य विश्व को भी लागू होता है। संभव है कि तर्क से विश्व असत्य सिद्ध हो जाय किन्तु इससे विश्व की सत्यता बाधित नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनुभव से प्रमाणित है। तो क्या सभी अनुभव विषय (वस्तुएं) सत्य ही होते हैं? यदि ऐसा होता तो विज्ञान और इन्द्रियानुभव कभी परस्पर विरोधी नहीं होते। लेकिन ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। एक उदाहरण लें। सामान्य सार्वजनीन अनुभव के अनुसार आकाश में सूर्य प्रतिदिन पूर्व में उदित होकर पश्चिम में अस्त होता है जबकि पृथ्वी अपने स्थान में स्थिर बनी रहती दीखती है। विज्ञान इस बात का प्रतिवाद कर यह प्रतिपादित

करता है कि पृथ्वी ही पश्चिम से पूर्व की ओर अपनी कक्षा में घूर्णन कर सूर्य की विपरीत गति का भ्रम पैदा करती है। इस बात को सब लोग प्रत्यक्षानुभव के बावजूद सत्य मानते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी का धरातल सम दिखायी पड़ने पर भी विज्ञान उसे वृत्ताकार बतलाता है, जिसे सब लोग सही मानते हैं। इन दोनों उदाहरणों में साधारण अनुभव का अपलाप करने से सामान्य लोग भी नहीं हिचकिचाते हैं। किन्तु सभी साधारण अनुभव की विषय-वस्तुओं की यह बात नहीं है। इस अन्तर का आधार क्या है? सूर्य की स्थिरता तथा पृथ्वी के धरातल की वक्रता ये दोनों अनुभव के विषय न होने पर भी क्यों सत्य मान लिये जाते हैं? क्या केवल तर्क ही इन बातों को प्रमाणित करता है? यदि हाँ, तो तर्क को अनुभवातिशायी प्रमाण मानना होगा। उत्तर के रूप में इस पर यह कहा जा सकता है कि तर्क उक्त अनुभवों के प्रसंग में केवल आनुभविक तथ्यों के विश्लेषण का या इस विश्लेषण द्वारा वास्तविक आनुभविक तथ्य के स्पष्टीकरण का ही कार्य करता है अनुभव की प्रमाणता के अपलाप का नहीं। जैसे, पूर्व उदाहरण में अनुभव का वास्तविक विषय सूर्य की पूर्व में तथा पश्चिम में अवस्थिति मात्र (सुबह और शाम के समय) है, पूर्व से चलकर पश्चिम क्षितिज तक पहुँचना यह अनुभव–विषय नहीं है, यह तो एक आनुमानिक तथ्य है। इसी तथ्य के समान पृथ्वी का पश्चिम से पूर्व की दिशा में घूर्णन भी एक आनुमानिक तथ्य ही है। इन दो आनुमानिक तथ्यों में चुनाव तर्क के आधार पर किया जाता है। तर्क के आधार पर ही यह भी निश्चित किया जाता है कि सूर्य की गति अनुभवगम्य नहीं है। दूसरे उदाहरण में भी, पृथ्वी का अंडाकार होना कुछ अनुभवों से निष्कृष्ट निष्कर्ष के रूप में ही प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार तर्क और अनुभव की प्रमाणताओं के बीच सामंजस्य स्थापित कर देने पर तर्क को अनुभव से श्रेष्ठ प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए विश्व के सामान्यानुभव को तर्क से निरास-योग्य मानना उचित नहीं है। कोई इस पर प्रतिवाद कर सकता है, जैसा कि पश्चिमी दार्शनिक देकार्त ने किया है, कि सभी सामान्यानुभव या इन अनुभवों के विषय संदेहास्पद हैं क्योंकि इनकी सत्यता भ्रान्ति, निद्रा, स्वप्न, अध्यास आदि की स्थितियों में ज्ञान का विषय नहीं होती है। गहरी नींद में अपने शरीर के अस्तित्व का भी मनुष्य को भान नहीं रहता है। क्या इस पर से यह तर्क नहीं किया जा सकता कि यदि जागृति की स्थिति विश्व की सत्यता को प्रमाणित करती है तो निद्रा की स्थिति असत्यता (या असत्ता) को प्रमाणित करती है? यह बात ज़रूर है कि निद्रा से जाग्रत होने पर विश्व की सत्यता पुनः उद्भासित होकर निद्रावस्था में मन पर छाये हुए अज्ञान को समाप्त कर देती है। किन्तु जागृति के भरोसे पर ही विश्व को सत्य ठहराना युक्तिसंगत नहीं है। यदि जागृत स्थिति की तुलना में निद्रा या स्वप्न की स्थिति किसी कारणवश बहुत अधिक समय बनी रहे या बार–बार कोई मनुष्य निद्रावश होता रहे तो उसका सत्यासत्यता का बोध सामान्य मनुष्यों जैसा नहीं रह पायेगा। इसी प्रकार कोई मनुष्य बार-बार भ्रान्तियों का शिकार हो तो भी उसका सत्यासत्य का विवेक ढीला पड़ जा सकता है। इन जैसी बातों के आधार पर ही देकार्त ने सर्वसन्देहवाद का पुरस्कार किया और सन्देहातीत सत्य की खोज करते हुए सन्देह-कर्त्ता आत्मा की निःसंदिग्ध सत्ता को एक

मूलभूत सत्य के रूप में प्रस्तुत किया। अद्वैतवाद के समर्थन में देकार्तीय सन्देहवाद को उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु विचार कर देखा जाय तो संदेहवाद की भूमिका समर्थनीय नहीं प्रतीत होती है। कुछ वेदान्तियों ने देकार्त के संदेहवाद जैसे ही विचार द्वैत-मिथ्यात्व के समर्थनार्थ प्रस्तुत किये हैं। जैसे, शुक्ति में रजत की जो भ्रान्ति होती है वह भासमान असत्य रजत को ही सत्य रजत के रूप में उपस्थित करती है। जब तक भ्रान्ति होती है तब तक असत्य ही पूर्ण सत्य के रूप में प्रतीत होता है। इस असत्य और सत्य वस्तु के बीच किंचित् भी फर्क नहीं होता है। जब भ्रम का निरास होता है तब असत्य का आभास भी (प्रायः) शेष नहीं रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्य प्रतीत होने वाली कोई भी वस्तु असत्य हो सकती है, किसी भी पदार्थ या तथ्य को अनिर्बाध रूप से सत्य मानने का आधार उसका ज्ञान ही है और इस ज्ञान के पूर्णतया अभ्रान्त होने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। यह तर्क देकार्तीय सन्देहवाद जैसा ही है। इन दोनों में एक दोष है जिसकी ओर इनके पुरस्कर्त्ताओं का ध्यान नहीं गया है। वह यह है कि किसी भी ज्ञान की प्रमाणता के बारे में सन्देह पूर्णरूपेण कदापि संभव नहीं है। जैसे 'शुक्ति रजत है या नहीं' इस ज्ञान की प्रमाणता तभी सन्देह-विषय होगी जब शुक्ति की सत्यता तथा इस सन्देह-रूप ज्ञान की वस्तु-रूपेण सत्यता प्रमाणित हुई हो। शुक्ति, रजत तथा इनका ज्ञान इन सब की वस्तुरूपेण सत्यता ही अप्रमाणित हो तो ज्ञान की यथार्थता के सम्बन्ध में प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। सत्य की पृष्ठभूमि में ही असत्य, असत्यता का सन्देह या सत्य में असत्य की भ्रान्ति घटित हो सकती है। अतः न देकार्त का सर्वसन्देहवाद और न कुछ वेदान्तियों का भ्रान्तिवाद या मायावाद ही आंशिक सन्देह या आंशिक भ्रान्ति के आधार पर खड़ा रह सकता है। प्रत्येक सन्देह तथा प्रत्येक भ्रान्ति के साथ कुछ सत्य अनिवार्य रूप से जुड़े रहते हैं। अतः देकार्त को सन्देहातीत की सत्ता सिद्ध करने के लिए सन्देहकर्त्ता की सत्यता प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। प्रत्येक सन्देह की सत्यता पर से उसके उद्देश्य की सत्यता को वह प्रमाणित कर सकता था। 'सामने जो वस्तु खड़ी दिखाई देती है वह ठूँठ है या मनुष्य ?' इस प्रकार के सन्देह के घटित होने के लिए सामने किसी वस्तु की उपस्थिति का निश्चयात्मक तथा सत्य ज्ञान होना आवश्यक है। भ्रांति की बात भी ऐसी ही है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या वस्तु-मात्र या तथ्यमात्र विषयक सन्देह या भ्रान्ति घटित नहीं हो सकती है ? जैसे, "यह तथा-कथित वास्तविक है या नहीं ?" ऐसा सन्देह समग्र विश्व को ही उद्देश्य बनाकर घटित हो सकता है। इस सन्देह के लिए विश्व की सत्यता पूर्वापेक्षित नहीं है क्योंकि भासमान् विश्व ही सन्देह का उद्देश्य है और वह असत्य भी भासित हो सकता है। संपूर्ण विश्व को उद्देश्य बनाकर भ्रान्ति भी घटित हो सकती है। भ्रान्ति में भी भासमान् विश्व ही उद्देश्य होगा। किन्तु ऐसा सन्देह या भ्रान्ति घटित होने के लिए तर्क, जो (सादृश्यमूलक होगा) आवश्यक है। वह तर्क यह होगा कि 'जैसे शुक्ति में रजत की भ्रान्ति संभव है या सम्मुखावस्थित वस्तु की असलियत के सम्बन्ध में सन्देह संभव है वैसे ही सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में भी भ्रान्ति या सन्देह संभव है।' इस तर्क में जिस 'अन्य ज्ञान-सादृश्य' रूप हेतु का उपयोग किया गया है

उसका यथार्थ ज्ञान होना तर्क के निर्बाध प्रयोग के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार जिस सन्देह या भ्रान्ति के सादृश्य का प्रयोग किया गया है उस सन्देह की सन्देहातीता तथा भ्रान्ति की भ्रान्तिरूपता का भी ज्ञान आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो सर्वसन्देहवाद और न ही सर्वभ्रान्तिवाद संभाव्य है। स्वयं अद्वैत ने ही इस तथ्य का पुरस्कार किया है। वेदान्ती निरधिष्ठानिक भ्रम को स्वीकार नहीं करते हैं। माध्यमिक बौद्ध सभी भ्रांतियों को निरधिष्ठानक ही मानते हैं। साधिष्ठानिक भ्रम के सिद्धान्त के अनुसार भ्रम का अधिष्ठान सत्य होना आवश्यक है। अध्यास के लिए भी किसी न किसी सत्य-अधिष्ठान की नितान्त आवश्यकता होती है। भ्रम में उद्देश्य, विधेय तथा इनका भ्रम-विषयक सम्बन्ध ये सब असत् नहीं हो सकते हैं। माध्यमिक बौद्धों का मत इसके ठीक विपरीत है। भ्रम का उद्देश्य उनके मतानुसार सत् नहीं हो सकता है क्योंकि भ्रम अपने विषय का निर्विकल्प या विशकलित ज्ञान नहीं होता। यथार्थ ज्ञान के समान भ्रम भी विशिष्ट ज्ञान-रूप ही हो सकता है। अतः यदि असद्धर्म-विशिष्ट वस्तु का भ्रम में प्रतिभास होता हो तो यह विशिष्ट वस्तु कदापि सत् नहीं हो सकती। अतः "भ्रम के विषय पूर्णतया असत् ही होते हैं" ऐसा माध्यमिक मानते हैं। यह मत 'असत्-ख्याति' या 'शून्यवाद' के नाम से पहचाना जाता है। माध्यमिकों को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दार्शनिक साधिष्ठानिक भ्रमवादी ही हैं। वे भ्रम को पूर्णतया सत्य या सत्य के ज्ञान से [पूर्णतया] अलग नहीं करते या कर सकते हैं। कम से कम भ्रान्ति के भ्रान्तित्व को जानने के लिए तो यथार्थज्ञान का यथार्थत्व जानना आवश्यक होगा ही जिससे ज्ञान मात्र को भ्रांतिरूप समझना तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। अतः तर्क से सामान्यानुभव के साक्ष्य का प्रतिवाद करना न तो उचित है और न ही उपयुक्त। तर्क से खण्डित होकर भी यह अनुभव अपने विषय की सत्ता को प्रमाणित करेगा ही।

अद्वैत के पक्ष में 'खण्डन खण्डखाद्य' जैसे वैतण्डिक विचारपूर्ण ग्रन्थों में एक अन्य प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। ये युक्तियाँ खण्डनपरक हैं और सभी व्यावहारिक संप्रत्ययों तथा अन्य दर्शनों द्वारा पुरस्कृत संप्रत्ययों के लक्षणों का खण्डन करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। कार्यकारणभाव और नियत साहचर्य जैसे सभी संप्रत्ययों के नैयायिक तथा अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सभी लक्षणों का इस ग्रन्थ में खण्डन किया गया है। इनके खण्डन द्वारा यह निष्कर्ष ग्रन्थकार प्रस्थापित करना चाहते हैं कि किसी भी प्रकार किसी भी वस्तुवाची शब्द के अर्थ का सही-सही निर्धारण नहीं किया जा सकता है। चूँकि शब्दों के अर्थ किसी न किसी प्रकार की वस्तुएं ही होती हैं अतः शब्दार्थ का निर्धारण न हो सकना वस्तु-स्वरूप के निर्धारण की अशक्यता को प्रतिपादित करता है जिससे विश्व की सत्ता का निर्धारण ही असंभव है, ऐसा निष्कर्ष इन खण्डनों से निकलता है। और "जो किसी प्रकार निर्धारणीय नहीं है वह सत् भी नहीं है" ऐसा इससे निष्कर्ष निकलता है। यहां हम इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये प्रत्येक खण्डन का किंचित् भी विचार किये बिना सभी खण्डनों के बारे में एक सामान्य प्रश्न पूछ सकते हैं कि "क्या प्रत्येक वस्तु का या तत्सम्बन्धी संप्रत्यय का लक्षणों के द्वारा निर्धारण किया जाना आवश्यक है ?" निर्धारण विश्लेषण है और जो विश्लेषणार्ह है उसी का विश्लेषण संभव

है। जैसे प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक मूर ने कहा है : घोड़े का लक्षणों द्वारा निर्धारण हो सकता है क्योंकि घोड़े का शरीर विभिन्न अवयवों से संरचित है और उसके अनेक गुण-धर्म होते हैं, किन्तु सभी वस्तुएं या संप्रत्यय ऐसे अवयवों में विभाज्य या विभिन्न गुण-धर्म-युक्त नहीं होते हैं। यदि ऐसा हो तो किसी भी वस्तु का पूर्ण लक्षण बतलाना असंभव हो जायेगा। लक्षण के घटक प्रत्येक पद के अर्थों का लक्षण और इन लक्षणों के घटक अन्य पदों का लक्षण इस प्रकार की लक्षण-परम्परा कहीं भी समाप्त नहीं हो पायेगी। लक्षणों के मूल में अलक्षणीय मूलभूत पदों, सम्प्रत्ययों या वस्तुओं को स्वीकार किये बिना इस अनवस्था से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इसलिए श्री हर्ष के द्वारा उपस्थित किये गये सभी खण्डनों को स्वीकार कर भी यह प्रतिवाद संभव है कि विश्व को अलक्षणीय या अनिर्वचनीय ही मान लें तो क्या हर्ज है? अलक्षणीय वस्तुएं भी अनुभवगम्य हो सकती हैं। ब्रह्म को भी तो वेदान्ती अनिर्वचनीय ही मानते हैं क्योंकि ब्रह्म में किसी प्रकार का विश्लेषण संभव नहीं है और ब्रह्म निर्विशेष है। विश्व की अविश्लेष्यता इस कारण भी हो सकती है कि विश्व-घटक सब पदार्थ आंशिक रूप से एक-दूसरे में समाविष्ट हैं जिससे उन्हें एक-दूसरे से पूर्णतया अलग पहचाना ही नहीं जा सकता है। अनेकान्त-वादी जैनों का ऐसा ही मत है। यदि ऐसी वस्तुस्थिति हो तो कोई लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न लक्षण परस्पर संकीर्ण ही होंगे। इस कारण ब्रह्म के समान विश्व को भी अनिर्वचनीय मानना होगा। किन्तु ब्रह्म की अनिर्वचनीयता उसके सर्वलक्षणीय धर्मों से अविशेषित होने के कारण होगी तो वह विश्व में विभिन्न लक्षणों के एकत्र समावेश का परिणाम होगी। ऐसा मानने से विश्व की अनुभाव्यता में कोई बाधा नहीं आयेगी और द्वैत-वाद का समर्थन अनायास किया जा सकेगा। श्री हर्ष के ही समान पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैड्ले ने भी सभी संप्रत्ययों को अपरिभाषेय ठहरा कर सब भेदों को अपने में समा लेने वाले अव्यवहितत्व (इमीडियेसी आफ फीलिंग) को परमार्थ के रूप में पुरस्कृत किया है। यह निष्कर्ष उक्त निष्कर्ष जैसा ही है।

कुछ अन्य वेदान्ती अद्वैत तत्त्व को श्रुति-वाक्यों से प्रमाणित मानकर उसे सामान्यानुभव-विषयक द्वैत का बाधक ठहराते हैं। "नेह नानास्ति किंचन," "तत्र को मोहः, कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" जैसे उपनिषद् वाक्यों को द्वैत-असत्यता-बोधक स्वतःसिद्ध प्रमाण मानने पर अनायास ही द्वैत की आभासरूपता प्रकट हो जाती है ऐसा इन वेदान्तियों का मंतव्य है। इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि धर्म जैसे अलौकिक पदार्थ के एकमेव बोधक के रूप में जैसे वेदों का कर्मकाण्ड-विषयक अंश प्रमाण माना जाता है वैसे ही ब्रह्मरूप पार-मार्थिक तत्त्व के एकमेव ज्ञापन के रूप में वेदों का ज्ञानकाण्ड-विषयक उपनिषद्-भाग प्रमाण मानने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन जब इस वेद-भाग में अनुभव-विरोधी बातों का निर्देश दिखाई पड़ता है तब उसे अर्थवाद जैसा ही मानकर उसका सामान्यानुभव-संगत अर्थ लेना ही उपयुक्त मानना होगा। पीछे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्यक्ष-सिद्ध बातों का विरोध या तिरस्कार श्रुतिवाक्य भी नहीं कर सकते हैं, विशेषकर इसलिये कि प्रत्यक्ष-प्रमाण का प्रमुख विषय द्वैत है और शब्द-प्रमाण का विषय, खासकर वेद वाक्यों का प्रमुख विषय, प्रत्यक्षागम्य

ब्रह्मरूप तत्त्व है। अतः वेदवाक्य द्वैत के विरोध में यदि कुछ भी कहें तो उसे सत्य नहीं माना जा सकता है। 'वेद' शब्द का अर्थ यदि वेद-वाक्यों के बदले अन्तःस्फूर्ति या अन्तर्दृष्टि लें तो शायद द्वैत के मिथ्यात्व को वेद-प्रमाणगम्य अथवा अन्तर्दृष्टि विषय-गम्य कहा जा सकता है, यदि बाह्य प्रत्यक्ष-विषय-जगत् को अन्तर्दृष्टि आभासमय समझती हो तो। लेकिन ऐसी बात है नहीं। महावाक्यार्थ-बोध को ही अन्तर्दृष्टि मान लिया जाये तो द्वैत-मिथ्यात्व अन्तर्दृष्टि का विषय समझा जा सकता है क्योंकि महावाक्यार्थ में द्वैत का समावेश नहीं है। लेकिन महावाक्यार्थ-बोध लौकिक बोध या अनुभव जैसा नहीं है, वह तो एक प्रकार का ब्रह्मानुभव ही है, सामान्य जनों को वह प्राप्य नहीं है। केवल ब्रह्मज्ञ लोग ही, यदि कोई ऐसे हों, अन्तर्दृष्टि-युक्त कहे जा सकते हैं, किन्तु इनके अनुभव का विषय क्या है यह इनके सिवा और कोई नहीं जान सकता है। अतः श्रुति, वेदवाक्य, अन्तर्दृष्टि आदि का द्वैत-मिथ्यात्व-साधन के लिए कोई उपयोग नहीं है। मान भी लें कि कोई ऐसा अनुभव है जिसका विषय ब्रह्म है और जिसमें द्वैत की प्रतीति नहीं होती तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि द्वैत-मिथ्यात्व को यह अनुभव प्रमाणित करता है। स्वप्न में जागृतावस्था के विषय प्रायः अज्ञात रहते हैं। इस पर से इन विषयों की असत्यता प्रमाणित नहीं मानी जाती है। इसका एक कारण यह है कि स्वप्न जागृतावस्था के पदार्थों का प्रत्याख्यान करते हुए घटित नहीं होता है। अधिक से अधिक ये पदार्थ स्वप्न में अज्ञात रहते ही बने रहते हैं किन्तु जागृति स्वप्न के पदार्थों का प्रत्याख्यान करते हुए ही घटित होती है। अर्थात् जागृति में स्वसंवेदन होता है, स्वप्न में नहीं। इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि में द्वैत अधिक से अधिक अज्ञात रहेगा, उसका मिथ्यात्व भी उसमें (अन्तर्दृष्टि में) प्रतीत होगा ऐसा मानना न तो तर्कसंगत है और न ही उपयुक्त। ऐसा मान लिया जाय तो भी अन्तर्दृष्टि का अनुभव सामान्यानुभव से श्रेष्ठ तथा उसकी प्रमाणता का अपलाप है, यह बात सिद्ध नहीं होती है।

अब हम द्वैत-मिथ्यात्व-साधन के लिए उपस्थित किये गये अनुमान-प्रमाण का संक्षेप में विचार करेंगे। यह अनुमान-प्रमाण **अद्वैत सिद्धि** में विचार के साथ प्रस्तुत किया गया है। समग्र **अद्वैत सिद्धि** का विवेच्य विषय यह अनुमान-प्रमाण ही है। यह अनुमान इस प्रकार है: "यह विश्व जो ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त किसी भी ज्ञान से बाध्य नहीं, जो ब्रह्म से भिन्न है और जो सद्रूप से प्रतीत होता है, वह अपने ही अधिकरण में आत्यन्तिक निषेध का विषय है (अर्थात् जहां जब वह विद्यमान है वहीं वह बिल्कुल नहीं है ऐसा कहा जा सकता है) क्योंकि वह दृश्य है, जड़ है, तथा परिच्छिन्न है। यहां पक्ष-"विश्व है", जिसके लिए कुछ आवश्यक विशेषण निर्दिष्ट किये गये हैं, जिनमें 'ब्रह्मज्ञानमात्र से बाधित होना' यह एक विशेषण है। साध्य आत्यंतिक निषेधविषयता है जिसके अनुसार विश्व यदि पूर्णतया बाध्य हो तो वह जहां जब है वहीं तब नहीं है ऐसा भी कहा जा सकता है। हेतु, दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि धर्म हैं जो उक्त साध्य के अनुमापक माने गये हैं। इस अनुमान के संबंध में प्रथम यह प्रश्न उठता है कि विश्व की सत्ता बाधित है और वह भी ब्रह्म प्रमात्मक अनुभूति से, यह बात कैसे

जान ली गयी ? सामान्यजन तो विश्व को सत् ही समझते हैं, विश्व की बाध्यता का विचार ही उनके मन में नहीं आता है। ब्रह्म का अनुभव भी सामान्य जन को प्राप्त नहीं है। ऐसी अवस्था में पक्ष का यथावत् ज्ञान सामान्य मनुष्य को कैसे हो ? श्रुति-प्रमाण से ही यह बात ज्ञेय हो तो उसी से यह भी ज्ञात होता है कि विश्व मिथ्या है। तब अनुमान की क्या आवश्यकता है ? जिसे श्रुति-प्रमाण से द्वैत-मिथ्यात्व का ज्ञान संभव नहीं है उसके लिए ही अनुमान का उपयोग है, अतः उक्त अनुमान में ऐसी बात का अन्तर्भाव करना उचित नहीं है जो श्रुतिमात्र गम्य हो। हेतु और साध्य का व्याप्य-व्यापक भाव भी श्रुति के बिना अगम्य है क्योंकि सामान्यानुभव से यह कदापि प्रकट नहीं होता है कि जो पदार्थ दृश्य, जड़ या परिच्छिन्न हैं वे सब अपने ही अधिकरण में निषेधार्ह हैं, याने नहीं के बराबर हैं। यहां प्रश्न हो सकता है कि क्योंकर दृश्य पदार्थ सर्वत्र सर्वदा निषेधार्ह माने जायें ? इसका उत्तर दिया गया है कि ऐसे पदार्थ परमार्थ सत्य नहीं होते हैं। ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है और वह दृश्य, जड़ या परिच्छिन्न नहीं है। अतः उक्त पक्ष, साध्य, हेतु का परस्पर समन्वय कर जो अर्थ निष्कृष्ट होता है वह यह है कि विश्व दृश्य, जड़, तथा परिच्छिन्न होने के कारण ब्रह्मज्ञान से बाध्य है अतएव वह परमार्थ नहीं है। इस निष्कर्ष में अनुमानगम्य ऐसी कोई बात प्रतीत नहीं होती है, शब्द-प्रमाणक तथ्यों को ही अनुमान के रूप में उक्त अनुमान में उपस्थित किया हुआ सा लगता है।

अब तक के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी तर्क या अनुमान से द्वैत के सामान्यानुभव को झुठलाया नहीं जा सकता है। एक अनुभव को उससे श्रेष्ठ अन्य अनुभव ही अप्रमाणित सिद्ध कर सकता है, द्वैत के मिथ्यात्व का ग्रहण करने वाला ऐसा कोई अनुभव नहीं है जिससे सामान्यानुभव बाधित हो। ब्रह्मानुभव की बात करना ही वृथा है क्योंकि सामान्य जनों के लिए यह अनुभव अगम्य है। श्रुति-प्रमाण भी इस सम्बन्ध में कोई महत्त्व नहीं रखता है क्योंकि वह भी ब्रह्मानुभव की ओर ही इंगित करता है। तो क्या अद्वैत के लिए कोई प्रमाण नहीं हैं ? या केवल उपनिषद्-वाक्यों के भरोसे पर ही अद्वैत सिद्धान्त की सत्यता स्वीकार कर ली जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें स्वयं शंकराचार्य की उक्तियों में ढूंढ़ना होगा। शंकराचार्य ने सूत्र रूप से अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारंभ में ही द्वैत-मिथ्यात्व-साधक प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। शंकर के परवर्ती वेदान्तियों ने इस की ओर ध्यान न देकर अन्यान्य जटिल तर्क-पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जिसकी असफलता का दिग्दर्शन अब तक कराया गया है। अब हम शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रमाण का संक्षेप में विचार प्रस्तुत करेंगे।

अपने भाष्य की भूमिका में शंकराचार्य 'लोक-व्यवहार' या व्यावहारिक जगत् का दार्शनिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि ("सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहं, इदं, मम, इदं इति नैसर्गिको अयं लोक-व्यवहारः") सत्य और अनृत के एक प्रतिभास "मैं यह हूँ", "मेरा यह है" से द्वन्द्व निर्माण कर उनके आधार पर सब लोगों के सब व्यवहार घटित होते रहते हैं।" यहां "लोक-व्यवहार" शब्द का प्रयोग शंकराचार्य ने व्यावहारिक विश्व के लिए किया है।

उनके मतानुसार सभी व्यवहारों के मूल में सत्य और असत्य का द्वन्द्व हुआ करता है। इस द्वन्द्व का मौलिक रूप "मैं यह हूँ" या "मेरा यह है" ऐसा जो शंकर ने वर्णित किया है उसका मतलब यह है कि "मैं" और "तुम" या "वह" में अविद्यमान अभेद-सम्बन्ध जब तक प्रस्थापित या प्रतीत नहीं होता तब तक कोई व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता है। इस तथ्य के स्पष्टीकरणार्थ दो उदाहरण लें। मैं अपने मकान को 'मेरा मकान' मानता और कहता हूँ। इस व्यवहार का आधार मुझे मकान के साथ जोड़ने वाला स्वरूप-सम्बन्ध है। इस संबन्ध का मेरे शरीर का मकान के साथ घटित भौतिक सम्बन्ध है तथा इस शारीरिक सम्बन्ध का आधार मेरा शरीर के साथ तादात्म्य संबन्ध है। सभी व्यावहारिक सम्बन्ध एक प्रकार से शरीराधिष्ठित होते हैं। शरीर के साथ आत्मीयभाव का अनुभव बराबर बना रहने के कारण ही विश्व के साथ भी परंपरया हम आत्मीयभाव का अनुभव करते हैं। इस अनुभव में आत्मन् सत्य है और शरीरादि सभी विषय मिथ्या हैं। यह सत्य-मिथ्या शब्दों का प्रयोग सापेक्ष है। शरीरादि विषयों की तुलना में आत्मन् अधिक सत्य होने के कारण विषयों का उसकी तुलना में मिथ्यात्व कहा गया है। वैसे तो विषयी आत्मन् भी मिथ्या ही है। उसकी तुलना में प्रत्यगात्मन् ही सत्य है। आत्मन् को सत्य कहने का कारण यह है कि आत्मन् के कारण ही अनात्म वस्तुओं की विषयता प्राप्त होती है। यही नहीं, अनात्म किस प्रकार का विषय है यह बात भी आत्मन् के द्वारा ही निर्धारित होती है।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि जैसे विषयी विषय-निरपेक्ष होने से स्वतंत्र तथा सत्य है वैसे ही विषय भी विषयि-निरपेक्ष सत्तावान् होने के कारण विषयी के समान ही सत्य माना जाना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि किसी भी अवस्था में कोई भी वस्तु किसी न किसी प्रकार के विषय के रूप में ही अवस्थित होती है। जैसे एक घटःपानी भरने का एक साधनः किसी ज्ञाता के बिना कोई मतलब नहीं रखता है। बहिर्भूत विषयता, ऐसा वस्तुओं का कोई रूप ही नहीं है। किन्तु विषय-विषयी के द्वन्द्व का, या परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थों का एक संघटना के परस्पर सम्बद्ध घटक बनकर प्रतीत होना, अथवा परस्पर अध्यस्त होकर प्रतीत होना, ऐसे युगलों को जन्म देता है जो न सत् कहे जा सकते हैं न असत्। इन युगलों को सदसदनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। स्पष्टीकरण के लिए शरीर और शरीराधिष्ठित समझे जाने वाले आत्मन् के युगल को लें। आत्मन् के बिना शरीर शरीर ही नहीं रह सकता है। इसीलिए आत्मन् को शरीर से अभिन्न माना जाता है। फिर भी "मैं मेरा शरीर हूँ" ऐसा कोई नहीं कहता है। साथ ही, अपने शरीर की ओर अंगुलि निर्देश कर "यह मैं हूँ" ऐसा भी निःसंदिग्ध प्रयोग हम करते हैं। इससे आत्मन् और शरीर का सम्बन्ध न अभेदरूप न भेद रूप ही सिद्ध होता है। यही इस सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता है। यही अनिर्वचनीयता सभी व्यावहारिक सम्बन्धों में अवतरित हुई प्रतीत होती है। जैसे वस्तुओं को हम गुण तथा जाति अथवा उपाधियों से युक्त द्रव्य के रूप में ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ सामान्यतः घट एक रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से युक्त तथा नित्य घटत्वयुक्त अनित्य द्रव्य समझा जाता है। घट की इकाई या स्वरूप में इन विभिन्न प्रकार तथा स्तरों की वस्तुओं का समावेश व्यवहार में कर

लिया जाता है। द्रव्य की तुलना में उसके गुण निम्न स्तरीय असत्य पदार्थ हैं और जाति की तुलना में द्रव्य निम्न स्तरीय अतएव असत्य पदार्थ हैं। इस प्रकार अनेक सत्य-असत्य पदार्थों के द्वन्द्व को, जो द्वन्द्व सत्य नहीं हो सकता, घट के रूप में पहचाना जाता है। यही बात सभी व्यावहारिक वस्तुओं, तथ्यों आदि के सम्बन्ध में दिखाई पड़ती है। नित्य-अनित्य, जाति-व्यक्ति, सम्बन्ध-सम्बन्धी, द्रव्य-गुण, भाव-अभाव. आत्म-अनात्म इन जैसे पारस्परिक स्वभाव वाले पदार्थों के द्वन्द्वों और इनके परस्पर अध्यास से व्यावहारिक जगत् या प्रपञ्च घटित हुआ है। ऐसा होते हुए भी यदि हम इस द्वन्द्वमय व्यवहार की आन्तरिक विसंगति को पहचान नहीं पाते तो इसका कारण हमारी जीवन-शैली की अविचारित रमणीयता ही है। लेकिन कभी-कभी व्यवहार का आंतरिक विरोध इतना तीव्र हो जाता है कि वह व्यवहारान्तर्गत असत् को स्पष्टतया सत् से अलग कर देता है, जैसे अपने ही शरीर के अतीव व्याधिग्रस्त या जर्जर होने पर उसके प्रति जुगुप्सा की भावना पैदा होना या जो विषय एक समय आकर्षक प्रतीत होते थे उनके प्रति वितृष्णा की भावना मन में जागृत होना। यह केवल भावनाओं की चंचलता है जिसके कारण परस्पर प्रतिकूल भावनायें एक के बाद एक मन में उद्रिक्त हो सकती हैं। यहां यदि प्रतिवाद किया जाय कि ज्ञान-विषय सत्ता-असत्ताओं का विरोध नहीं है, तो उसका उत्तर यह है कि भ्रान्ति, अध्यास आदि की स्थिति में सत् भी असत् जैसा और असत् भी सत् जैसा हो जाता है। व्यावहारिक वस्तुओं तथा तथ्यों में व्याघात अन्तर्निहित होता ही है। "प्रतिपल परिवर्तनशील गुणों से युक्त घट, पेड़ या मनुष्य आदि एक हैं या अनेक ?" ऐसे प्रश्न का व्यावहारिक भूमिका पर से न सकारात्मक उत्तर दिया जा सकता है न नकारात्मक। घट यदि एक ही बना रहे तो उसका गुणों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता है, समवायादि सम्बन्ध की बात ही दूर है। यदि घट प्रतिपल बदलता हो तो वह घट कैसे बना रहेगा ? किन्तु व्यवहार के चलते रहने के लिए सत् में असत् के आरोप की नितान्त आवश्यकता है। सत्य आत्मन् का असत्य में उलझना और उसके बाद उसमें से उभरने के लिए प्रयास करना यही व्यवहार है जो अनादि होते हुए भी सांत है। उलझने-उभरने का सिलसिला अनन्त काल तक चलता नहीं रह सकता है। असत्य के प्रति वितृष्णा का भाव मन में जाग्रत होना अवश्यंभावी है।

यहां यह प्रश्न संभव है कि व्यवहार में अन्तर्विरोध भले ही हो, वह ज्ञानमीमांसा के लिए तो महत्त्वपूर्ण होगा, आध्यात्मिक दृष्टि से उसे क्योंकर महत्त्वपूर्ण माना जाय ? अधिक से अधिक यह अन्तर्विरोध हमें हमारे व्यावहारिक वस्तु आदि विषयक संप्रत्ययों को बदलने के लिए बाध्य कर सकता है। उसका हमारे आत्मिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर पीछे सूचित कर दिया गया है। सभी अन्तर्विरोधों का मूल आन्तरिक आत्मिक अन्तर्विरोध है जिसका "अहं-इदं" "मम-इदं" इन वाक्य-खण्डों द्वारा शंकराचार्य ने निर्देश किया है। बाह्य व्यावहारिक विरोधों के मूल की खोज करते हुए जब विचारक उक्त आत्म-अनात्म या विषयि-विषय सम्बद्ध विरोध तक पहुँचता है तब उसे ज्ञात होता है कि सब विरोधों की जड़ उसके आत्मा में या आत्मविषयक अज्ञान में ही है जिसके निरासन के बिना जीवन-व्यापी अन्तर्विरोध का विलय नहीं हो सकता है। इस तरह आपाततः ज्ञानमीमांसीय या तत्त्वमीमांसीय

प्रतीत होने वाला विरोध वास्तव में आध्यात्मिक ही है। इस सत्य को जान लेना ही व्यवहार-विषयक चिन्तन का परिणाम है। यह चिन्तन व्यवहार पर थोपा नहीं जा सकता है। आहार्य चिन्तन निष्फल है, उससे केवल बौद्धिक मनोरंजन ही हो सकता है, किसी समस्या का समाधान नहीं, क्योंकि चिन्तक के सम्मुख कोई वास्तविक समस्या ही नहीं होती है। व्यवहार ही अपने अन्तर्विरोध की उत्कटता के कारण आत्मचेतन होकर जब चिंतन का रूप धारण करता है तब वह अपने में अन्तर्भूत सत्यासत्य के विवेक की ओर उन्मुख होता है। यदि कोई व्यवहार-निरत व्यक्ति अपने व्यवहार के सम्बन्ध में चिन्तन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता है तो केवल वाद-विवाद के द्वारा दूसरों पर अपना मत लादने के लिए उसका चिन्तन में प्रवृत्त होना बिल्कुल निरर्थक है। किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऐसे व्यवहारनिरत व्यक्ति पर चिंतन (या उसके निष्कर्ष) लादना भी निरर्थक है। वाद-विवाद तथा अधिकतर व्यावहारिक चर्चा में तर्क केवल पाण्डित्य प्रदर्शनार्थ किये जाते हैं। इनके द्वारा न पूर्वपक्षी का न प्रतिपक्षी का ही मत-परिवर्तन (या हृदय-परिवर्तन) हो पाता है। इसी कारण वेदान्त में जिस मनन-प्रक्रिया को आत्मज्ञान का (तथा अनात्मविषयक अज्ञान के निरसन का) साधन बताया गया है वह आत्मचिंतन ही है। अपने ही अनुभवों का आंतरिक विश्लेषण कर उसमें गर्भित दुराग्रह, दुरभिनिवेश आदि बुद्धिपूर्वक निरास करना यही मनन प्रक्रिया का स्वरूप या लक्ष्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि मधुसूदन सरस्वती, चित्सुखाचार्य, श्री हर्ष आदि तार्किक वेदान्ती नव्यन्याय की विचार-पद्धति से इतने अधिक प्रभावित हो गये थे कि इन्होंने अन्य दर्शनों के समान अद्वैत वेदान्त का भी लक्ष्य अनुमान के द्वारा स्वपक्ष स्थापन या परपक्ष-निराकरण ही मान लिया था। सामान्यानुभव का परीक्षण करना इन्होंने आवश्यक नहीं समझा। यह बात नहीं है कि तार्किक विचार वेदान्त के लिए अपेक्षित नहीं है। यदि कोई जिज्ञासु व्यक्ति आत्मचिंतन के प्रसंग में अपनी आत्म-विषयक ग़लत धारणाओं से छुटकारा पाना चाहता है तो उसके लिए अन्य मतों का — यदि उसने ग़लती से उनका पुरस्कार किया हो — तार्किक विचार उपयुक्त होगा। अन्य दर्शनों में तार्किक विचार प्रतिपक्षियों के मतों के खण्डन के लिए ही किया जाता है। वेदान्त में प्रतिपक्षियों के मण्डन का या स्वमत खण्डन का वास्तव में न कोई महत्त्व है न अवसर। ज्ञान या सत्य की प्राप्ति के ये—वेदान्त सिद्धान्तानुसार—साक्षात् साधन नहीं हैं। इन पद्धतियों से भी जो तथ्य जाने जा सकते हैं उन्हें यदि आत्मसात् नहीं किया जाय, याने इन तथ्यों के अनुरूप अपने में अन्तर्बाह्य परिवर्तन न लाया जाय, तो इन तथ्यों का ज्ञान अज्ञान जैसा ही होगा। अंग्रेज़ी में ज्ञान को "नोइंग बाई बींग" अर्थात् 'ज्ञानमय' या 'ज्ञानरूप हो जाना' कहते हैं। मनन या आत्म-चिन्तन और निदिध्यासन से ही यह बात साध्य हो सकती है। सामान्यानुभव ही, उसके अन्तर्विरोध के प्रस्फुटित होने पर, स्वसंवेदी हो कर आत्मचिन्तन में परिणत होता है। यही आत्मचिंतन प्रगाढ़ होने पर आत्मानुभव में परिणत हो जाता है। अतः अद्वैत सिद्धान्त के मूलाधार खोजने के लिए गूढ़ तर्क या युक्तियों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। दैनंदिन जीवन के सामान्य अनुभवों का आन्तरिक विश्लेषण ही एतदर्थ पर्याप्त है।

प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर, नागपुर.

मननीय

सुखिया सब संसार : खावै औ सोवै,
दुखिया दास कबीर : जागै औ रोवै।

सौजन्य से

न्यू एज कंसल्टेंट्स,
6, इंडस्ट्रियल एरिया
रानी बाज़ार, बीकानेर

2

कला का अन्वेषय*

यशदेव शल्य

कला को भावना का आत्म–निरूपण, अथवा आत्मचेतन भावना का अर्थ-विजृम्भण, अथवा विषयिता का विषयिता-प्रत्यय–विषयिता-सामान्य के रूप में अवगमन कहा जा सकता है। निरूप्य अथवा अवगम्य की विषयरूपेण विषयी से पृथक् विद्यमानता, विषयी का विषय से ताटस्थ्य, विरक्त प्रेक्षक भाव, ज्ञान का यह सहज स्वीकृत रूप है। इसका आदर्श इन्द्रिय-प्रदत्त विषयों में चरितार्थ होता है। ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत और इस द्वैत की "प्रकृति-पुरुष" संज्ञा के मूल में ज्ञान का यह निदर्श ही प्रतीत होता है। किन्तु प्रेक्षक-प्रेक्ष्य का यह द्वैत विषयी को अपने को लेकर भी होता है: अपनी संवेदनाओं, भावनाओं, यहां तक कि अपने ज्ञानात्मक ग्रहणों का विषयकरण और इनसे तटस्थ प्रेक्षक-भाव यह भी आत्मचेतन चेतना में सहजतः घटित होता है। इसी से सांख्य में चेतना की बुद्धिपर्यन्त वृत्तियां प्रकृति-रूप में ही आकलित की गई हैं। धर्म-नीति और दर्शन में चेतना की इस ज्ञान-वृत्ति का चरम प्रकर्ष उपलब्ध होता है। किन्तु विज्ञान भी इसी का एक अवरतर रूप है, क्योंकि इसमें भी इन्द्रियगोचरता का तत्त्व ही विमृश्य होता है, इन्द्रिय-गोचर विषय विमृश्य नहीं होता। विषयिता के विषयकरण के बिना उसका उसके ही तत्त्व में विमर्श, उसके अपने ही तत्त्व में उसका अवगाहन, आत्मचेतन चेतना का यह एक दूसरा, और ज्ञानात्मक से भिन्न आयाम है। किन्तु यह आयाम भी आत्मचेतन चेतना का ही होने से इसमें भी चेतना अपने में अपने से विलग, आत्मनिरूपण के लिए अपने से अपने में तटस्थ होती है। केवल इस विलगाव में अपने से विलग हुआ पक्ष विषयरूपेण प्रस्तुत नहीं किया जा कर विषयिरूप में ही रहता है और इसमें विलगाव की दूरी एक साध्य मूल्य नहीं होती, क्योंकि इसमें विषयिरूपेण घटित होकर और विषय-रूपेण अपने से विलग हुए

---

* यह लेख भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली की सीनियर फैलोशिप के तत्त्वावधान में लिखी जा रही पुस्तक "मूल्यतत्त्व-मीमांसा" का छठा अध्याय है। इसके प्रकाशन की अनुमति देने के लिए हम परिषद् के प्रति आभारी हैं।

बिना ही चेतना को निरूप्य होना होता है। इसमें मानो प्रेक्षात्मक चेतना विलगाव को सिद्ध कर उसे निरस्त कर देती है। यह आत्म-अविलगता विषयिता के उसकी निजता में विमर्श की एक अनिवार्य अपेक्षा है। इसी से हमने कला को भावना का निरूपण, भावना पर विमर्श, नहीं कह कर भावना का आत्मनिरूपण, भावना का आत्मविमर्श कहा है। ऐसा नहीं है कि कला में विचार और वितर्क निषिद्ध रहता है, किन्तु यह भावनात्मक विषयिता की अर्थान्वित के रूप में ही रहता है, विषय के विवेचन अथवा अन्वेषण के रूप में नहीं। उदाहरणतः उपन्यासों में पात्रों द्वारा किया गया विचार अथवा दो पात्रों में परस्पर तर्क-वितर्क तार्किक विवेचन के रूप में प्रस्तुत नहीं होकर पात्रों के विचारों-धारणाओं और चारित्रिक गुणों के निदर्शक के रूप में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु कला में तर्क एक-दूसरे रूप में विद्यमान रहता है: भावना के आत्म-विवेचन के रूप में। यह तर्क कला-कृतियों में उनकी आवयविकता अथवा कहें संरचनात्मकता के रूप में लक्षित होता है और उन अवयवों की संवादिता, अन्तःसंगति और आत्मविवेचन की सफलता की मात्रा के रूप में चरितार्थ होता है।

यहाँ दो बातें देखने की हैं: एक तो यह कि कला का क्षेत्र भावना है, वितर्क, निरीक्षण या नियम का अन्वेषण नहीं है, और दूसरे यह कि इसमें भावना अपने में निगूढ़ अर्थ का विमर्श अपने में पुनर्निविष्ट होकर, अपने साथ तदात्म होकर, करती है। इस प्रकार भावना के अर्थ-विजृंभण का तात्पर्य भावना का विजृंभण द्वारा अर्थ प्राप्त करना भी कहा जा सकता है। कला को जो सृजनात्मक कहा जाता है उसका यही तात्पर्य है कि इसमें स्वयं भावना अर्थ-रूप में विवर्तित होती और इस विवर्तन की साक्षात्कारी होती है। इसे बहुत कुछ स्मृत संवेद के पुनः संवेदन जैसा कहा जा सकता है। स्मृत संवेद निरीक्ष्य होकर अपने आकार में ग्राह्य होता है, और इस स्मृत के पुनः संवेदन का अर्थ है इस आकार का संवेदन करना, आकार के साथ तदात्म होना और उसमें जीना। इस प्रकार चाहे कलाकार मीरा के रूप में "हे री, मैं तो प्रेम-दीवानी मेरा दरद न जाने कोय" गाये और चाहे कालिदास के रूप में इन्दुमती की मृत्यु पर अज के विलाप का "वर्णन" करे, दोनों में वह समान रूप से विरह-वेदना से विलग और अविलग होता है। इस विलगाव और अविलगता को इस बात से भी देखा जा सकता है कि इस वेदना के निरूपण के लिए कवि अलग-अलग अभिव्यक्ति-रूप अपनाते हैं और ये अभिव्यक्तियाँ न्यून या अधिक उपयुक्त होती हैं, और इसी प्रकार सब में एक भाव-तन्मयता होती है जो न्यून या अधिक होती है। अभिव्यक्ति की यह उपयुक्तता भावना के अर्थ-रूप में विवर्तन की उपयुक्त प्रस्तुति से आती है और भाव-तन्मयता इस अर्थ के भावन से। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह अर्थ-विवर्त स्वयं अभिव्यक्ति ही होता है जिसमें चिति न्यूनाधिक उपयुक्त और न्यूनाधिक पर्याप्त रूप से विवृत होती है। इसे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की पदावली की सहायता से कहें तो कहा जा सकता है कि विमर्श प्रकाश के स्वरूप के साक्षात्कार के प्रयत्न के रूप में स्फुरित होता है जो प्रयत्न न्यूनाधिक ही सफल होता है। यह न्यूनाधिक्य ही अभिव्यक्तियों में भेदों का कारण होता है। अभिव्यक्तियों का यह भेद एक ओर एक ही माध्यम के अन्तर्गत होता है और दूसरी ओर भिन्न-भिन्न माध्यमों के रूप में :जैसे विरह-वेदना के विभिन्न काव्यात्मक वर्णनों में एक ओर और कला की विभिन्न विधाओं के रूप में दूसरी ओर। इस प्रकार कला वास्तव में ही अनुकरणात्मक होती है, किन्तु प्रत्ययों के

इन्द्रिय द्वारा विकृत रूपों की अनुकृति नहीं, जैसा प्लेटो ने कहा है, बल्कि भावना के आत्मावगाहन में आविर्भूत प्रत्यय या अर्थ की। यहां द्रष्टव्य है कि हमने "अर्थ" के साथ "आविर्भाव" पद का प्रयोग किया है, प्रकट होने, अनावृत होने, का नहीं। विचारात्मक अवगाहन में जबकि ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे मानो विस्मृति में आच्छन्न अथवा अनवधान से परोक्षभूत अर्थ ही प्रकट हो रहे हों, भावनात्मक अवगाहन में वैसी बात नहीं होती, उसमें अर्थ चेतना के रूपान्तरण के रूप में नव्योत्पन्न जैसे ही प्रतीत होते हैं। किन्तु ये अर्थ विचारात्मक अवगाहन में प्रकट अर्थों से भिन्न कल्पित और अवास्तव नहीं होते, ये उतने ही वास्तव और स्वायत्त होते हैं जितने विचारात्मक अर्थ। इसी प्रकार कला ज्ञान में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के समान बाह्योर्थों को भी लक्षित करती है, जैसे किसी व्यक्ति अथवा दृश्य के चित्र में, यद्यपि वहाँ भी इसके अर्थ इन्द्रियगम्य नहीं होकर प्रतिभागम्य ही होते हैं। इस प्रकार कला सत्य को ही लक्षित करती है, सौन्दर्य या रस को नहीं, जैसाकि प्रायः ही उसके सम्बन्ध में समझा जाता है। और क्योंकि इसका लक्ष्य सत्य ही होता है इसलिए उसे निरूपित करने के लिए स्वीकृत या रचित माध्यम भी उसके उपयुक्त ही होता है, सुन्दर या रसात्मक नहीं। उदाहरणतः किसी कुरूप किन्तु उदात्त चरित व्यक्ति के चित्र को एक ओर और कुरूप तथा दुरात्म व्यक्ति के चित्र को दूसरी ओर लें। चित्रकार यदि प्रथम में उसकी आकृतिगत कुरूपता के पीछे उसकी चरित्रगत सुरूपता को लक्षित करता है तो दोनों के लिए उसे रंगों और रेखाओं का ही सहारा लेना होता है और उसकी सफलता इसी में होती है कि वह आकृतिगत कुरूपता को नकारे बिना चरित्रगत सुरूपता को व्यक्त कर दे—जो बहुत सीमा तक वास्तव में भी उस व्यक्ति के चेहरे में झलकती है। उसी प्रकार व्यक्ति के चित्र में भी उसकी सफलता आकृतिगत और चरित्रगत कुरूपताओं के सामरस्य को निरूपित कर देने में ही होती है। इस दूसरे चित्र को कुरूपता का चित्र ही कह सकते हैं, यह चित्रण ही इसमें चित्रकार को अभिप्रेत होता है। अब, कहा जाता है कि जबकि दूसरा व्यक्ति सर्वतः कुरूप ही है, उसका चित्र सुन्दर ही होता है, क्योंकि वह कुरूपता की प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता बल्कि अपने चित्रण-कौशल से चमत्कृत करता है। अब, जब कि यह सही है कि वह चित्र कुरूपता की प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता यह सही नहीं है कि वह चित्र अपने चित्रण-कौशल से चमत्कृत करता है और वह चमत्कृति सौन्दर्यात्मक होती है। वह चित्र कुरूपता के अर्थ-निरूपण को लक्षित करता है और उस अर्थ की व्यंजना में ही उसकी सफलता होती है। इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए वह रूप की विकर्षकता को ही माध्यम बनाता है और इस प्रकार वह चेहरा कुरूप ही होता है। यह चित्र जुगुप्सा भी उत्पन्न कर सकता है : यदि उसका प्रयोजन जुगुप्सा उत्पन्न करना है तो वह उत्पन्न करने में ही उसकी सफलता होगी। किन्तु निश्चय ही वह जुगुप्सा संवेदनात्मक नहीं होकर अर्थ-बोधमूलक होगी। किन्तु यह अर्थ चित्र के साथ आविर्भूत नहीं होता यह अर्थ स्वयं वह दृश्य ही चित्रकार पर प्रकट करता है और चित्रकार उस साक्षात्कृत अर्थ को स्थायी और मूर्त रूप देने के लिए उस चित्र की रचना करता है। किन्तु दृश्य अर्थ-व्यंजक होने पर भी सहजतः और अस्तित्वतः व्यंजक नहीं होता, अस्तित्वतः दृश्य व्यंग्य अर्थ से स्वतत्र होता है। इसके विपरीत चित्र अस्तित्वतः अर्थ-व्यंजक होता है। निश्चय ही इस अर्थ और इसके बोध को सुन्दर भी कहा जा सकता है

ग्रौर इससे उस चित्र को भी, किन्तु यह सौन्दर्य उस अर्थ में सौन्दर्य नहीं है जिस ग्रर्थ में इस शब्द का साधारणतः, और कला के प्रसंग में भी, प्रयोग होता है, क्योंकि इस ग्रर्थ में कोई भी साक्षात्कृत ग्रर्थ सुन्दर होता है। इसके ग्रतिरिक्त, चित्रकार का उस चित्र-रचना में प्रयोजन सुन्दर ग्राकृति की रचना करना और उसके द्वारा सौन्दर्य-दर्शन की ग्राकांक्षा को संतुष्ट करना नहीं होता बल्कि उस बोध को, उस साक्षात्कार को, उस अर्थ-वैभव को विवृत ग्रौर स्फुट करना होता है जो उसकी पश्यन्ती चेतना में उस दृश्य ने उद्भासित किया होता है।

वास्तव में दृष्टि, साक्षात्कार, प्रत्यय, ग्रर्थ ये सब शब्द, ग्रौर सबसे अधिक सत्य शब्द, साधारणतः चेतना की विषय-वृत्तिकता से सम्बद्ध हैं। किन्तु भाषा मात्र ही अपने मुख्य ग्रर्थ में विषय-वृत्तिकता से सम्बद्ध होती है, जैसा कि मुख्यार्थ के अभिधात्मक होने से स्पष्ट है। किन्तु काव्य में भाषा का प्रयोग ग्रभिधात्मक रूप में नहीं होता : काव्य की गद्यात्मक विधाग्रों में भी नहीं। न चित्रकार या मूर्तिकार चित्र या मूर्ति में दृश्य रूप की अनुकृति प्रस्तुत करने को लक्षित करता है। संगीत में तो कथ्य पूर्ण रूप से ही कथन में ग्रन्तर्भूत हो जाता है ग्रौर कथ्य भावित ग्रर्थ मात्र होता है। कला में विमृष्ट ग्रर्थ के अविषयात्मक होने से कला को सृजनात्मक ग्रौर ग्रर्थ को कल्पित कहा जाता है। ग्रब, जबकि कला ग्रौर उसके ग्रर्थ के ये निरूपण सर्वथा उपयुक्त हैं, इसका तात्पर्य समझने में प्रायः ही भ्रान्ति देखी जाती है। विषय विषयी से स्वतंत्र ग्रौर इस प्रकार उसका ज्ञान सत्य ग्रथवा ग्रसत्य कहा जाता है। ज्ञान की सत्यता उसकी विषय के सत् से ग्रनुरूपता में ग्रौर ग्रसत्यता इस अनुरूपता के ग्रभाव में देखी जाती है। स्वभावतः ज्ञान की विषयगत सत् से भिन्नता का यह स्रोत विषयी में ही होना चाहिए। इसी कारण ऐसे ज्ञान को विषयिनिष्ठ कहा जाता है। किन्तु तब निर्भ्रान्त ज्ञान का स्रोत भी विषयी में ही होना चाहिए। किन्तु इस स्रोत को विषयगत नहीं कह कर विषयी चेतना की निर्मलता कहा जाता है ग्रौर इस ज्ञान को विषयनिष्ठ–विषयानुरूप कहा जाता है। इस प्रकार की विषयानुरूपता ज्ञान की सत्यता ग्रौर विषय–प्रतिरूपता भ्रान्ति कही जाती है। किन्तु भ्रान्ति में चेतना उतनी ही विषयोद्दिष्ट होती है जितनी निर्भ्रान्त ज्ञान में। वास्तव में भ्रांति चेतना की इस वृत्ति में ही विपर्यास से ग्राती है। किन्तु तब क्या चेतना के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि यह जबकि वस्तुतः विषयोद्दिष्ट नहीं होकर ग्रात्मोद्दिष्ट होती है यह समझती ग्रपने को विषयोद्दिष्ट है? विषयिनिष्ठता का कुछ ऐसा ही अर्थ प्रतीत होता है। किन्तु भ्रान्त चेतना को ग्रात्मोद्दिष्ट कहना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भ्रांति वास्तव में इसे ग्रपनी उद्दिष्टता में नहीं होती उद्दिष्टता की उपलब्धि में होती है। किन्तु विषयोद्दिष्ट होने पर चेतना को विषयगत सत् की कभी उपलब्धि ग्रौर कभी ग्रनुपलब्धि क्यों होती है? इसका कारण चेतना के ग्रावेगों, इच्छाग्रों, वासनाग्रों या संस्कारों से उपहित होने को कहा जाता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह सब जबकि इन्द्रिय-विषयज्ञान में स्पष्ट जैसा लगता है ग्रनिन्द्रिय-विषयज्ञान में वैसा स्पष्ट नहीं लगता। उदाहरणतः वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय ग्रौर दार्शनिक सन्दर्भों में वस्त्वनुरूपता का यह निदर्श लागू नहीं होता। किन्तु ज्ञान के इन संदर्भों में भी चेतना का ग्रावेगादि से अनुपहित होना उतना ही अपेक्षित होता है जितना इन्द्रिय-विषयज्ञान में, ग्रौर वास्तव में इन संदर्भों में इन वृत्तियों के ग्रावरण कहीं ग्रधिक सूक्ष्म ग्रौर दुर्निबार होते हैं।

किन्तु इन सन्दर्भों में ये आवरण नहीं रहने पर भी सत्य की अनुपलब्धि संभव होती है। अनुपलब्धि का यह रूप इन विषयों और इनके सत्यों को एक सर्वथा दूसरा रूप दे देता है। इनमें हम कभी भी यह नहीं कह सकते कि हमने सत् को पा लिया, इतना ही नहीं, हम यह भी नहीं कह सकते कि हम सत् की ओर ही उन्मुख हैं। इस कारण से इनके सम्बंध में बहुत लोग यह भी मानते हैं कि इनमें सत् का और परिणामतः सत्य का कोई अर्थ नहीं होता, इनमें सत् कल्पना द्वारा आक्षिप्त होता है, यद्यपि यह आक्षेप इस प्रकार का होता है कि यह सत्य, न्यून या अधिक सत्य, और भ्रान्ति की स्थितियों को संभव करता है। किन्तु सत् का यह आक्षेप पूर्णतः यादृच्छिक होता है।

किन्तु यदि यह सही हो तो सत् केवल इन्द्रियगम्य ही रह जाता है और सत्य इन्द्रियगम्य के साथ चित् की इन्द्रियवृत्ति की अनुरूपता। किन्तु जैसा कि हम जानते हैं, यह इन्द्रियगम्य ही वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विचार का विषय बनता है और आगे अपने सम्बंध में दार्शनिक प्रश्नों को जन्म देता है। इस सब में विषयवृत्तिक चेतना का विषय के अवगमन के लिए अपने अतलान्त के अवगाहन का उपक्रम ही परिलिक्षित होता है। इस अवगाहन में ही सत् अपनी प्रतिष्ठा पाता है। किन्तु इसमें विषयिता का पक्ष पूर्णतः छूट जाता है।

जैसा कि हमने पीछे देखा, चेतना की सहज प्रवृत्ति विषयात्मक है। इसे चेतना के जगद्भाव का पक्ष कहा जा सकता है जो चेतना के जैव प्रवर्तन का मूल प्रयोजन है। स्वभावतः चित्त की सब प्रवृत्तियां इस प्रयोजन की ही उपकारक बनती हैं। चेतना के आत्मचेतन स्तर पर चेतना और चित्त की प्रवृत्तियाँ भी विषयता में रूपान्तरित हो जाती हैं। किन्तु इन प्रवृत्तियों का एक अपना पक्ष भी रहता है जो विषय-वृत्तिक चेतना के लिए बाधक या आवरक बनता है। वास्तव में विषयात्मक चेतना के लिए यह आवश्यक ही होता है : राग और द्वेष अन्य व्यक्तियों के व्यवहार-विषयक विवेक में भी भ्रांति के हेतु होते हैं और स्वयं में अपने प्रयोजनों के यथार्थ निर्णय में भी भ्रांति के हेतु होते हैं। किन्तु प्रत्यवेक्षी चेतना जब अपनी सहज विषयवृत्तिकता को स्थगित कर स्वयं इन चित्तवृत्तियों के अन्तर में प्रविष्ट होती है तब ये वृत्तियाँ साधक-बाधक नहीं रह कर स्वकीय अर्थों से मंडित हो जाती हैं। ये अर्थ ही कलाओं के माध्यम से अपने को प्रकाशित करते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि कलाकार आवेगों के, अथवा राग-द्वेष के वशवर्ती होकर कला-सर्जन में प्रवृत्त होता है, यद्यपि कलाकारों को इनके अधीन भी देखा जाता है और बहुत से लोग समझते हैं कि वैसा होना कलाकार के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित भी होता है। किन्तु वास्तव में कलाकार के लिए उसी प्रकार इनका अतिक्रमण कर इनके तत्त्व या अर्थ में प्रतिष्ठित होना अपेक्षित होता है जिस प्रकार वैज्ञानिक के लिए प्रत्यक्षगत का अतिक्रमण कर उसके तत्त्व या अर्थ में प्रतिष्ठित होना अपेक्षित होता है। उदाहरणतः क्रुद्ध लक्ष्मण का वर्णन करते हुए वाल्मीकि या तुलसीदास स्वयं क्रोधाभिभूत नहीं होते, यद्यपि लक्ष्मण के साथ उनके लिए एक तादात्म्य स्थापित करना भी आवश्यक होता है। किन्तु उतना ही तादात्म्य उन्हें परशुराम के साथ भी स्थापित करना होता है। यह जगत्–सृष्टि में ईश्वर द्वारा अपने को

उपादान बनाने, रूप-कल्पना करने और इन दोनों स्थितियों का प्रेक्षक होने जैसा व्यापार होता है :

सोऽकामयत/बहु स्यां प्रजायेयेति/स तपोऽतप्यत/स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच/तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत ।[1] ऐसा नहीं है कि यह अन्य पात्रों के चित्रण या निरूपण में ही होता है, यह अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी होता है, चित्रकार द्वारा अपना पोर्ट्रेट बनाने में यह प्रत्यक्षतः भी देखा जा सकता है। किन्तु गीत रूप में अपनी भावना की अभिव्यक्ति में भी यही होता है । वास्तव में उसकी अपना पोर्ट्रेट बनाने की सामर्थ्य सृजन-कौशल या सृजन-योग ही उसे अन्य पात्रों की सृष्टि करने में समर्थ करती है । कलाकार का यह कर्म पर-काय-प्रवेश-योग से उपमेय है : पर-काया में वही प्रवेश कर सकता है जो अपनी काया से मुक्त हो सकता है और उसे अन्य कायाओं के समान बाह्यतः प्रवेश्य बना सकता है । पर-काय-प्रवेश में और कलाकार के प्रवेश में इतना ही अन्तर है कि कलाकार के प्रवेश की यह काया भौतिक नहीं होकर चैत्त होती है । किन्तु द्रष्टव्य है कि अभिनेता भौतिक काया की विषयिता में भी प्रवेश करता है और एक प्रकार से चित्रकार भी यह करता है । चित्रकार केवल मनुष्यों के ही नहीं वनस्पतियों और भौतिक वस्तुओं के काया-चित्त में, काय-विषयिता में भी प्रवेश करता है । 'अभिनेता मूल पात्र का अनुकरण करता है' यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा, क्योंकि मूलपात्र :रामः कभी देखा गया नहीं होता । और फिर सब नाटक ऐतिहासिक भी नहीं होते । नाटककार जिस व्यक्ति के चरित्र का चित्रण करता है अभिनेता उस चरित्र को अपने देह में अवतरित करता है और इस प्रकार अन्य दैहिक विषयिता को, अन्य देहात्म को[2], धारण करता है । चित्रकार आकृतियों में अभिव्यक्त चरित्र का साक्षात्कार करता है और उस आकृतिगत, अथवा कहें आकृति-रूपेण व्यक्त विषयिता को चित्रांकित करता है । द्रष्टव्य है कि चित्रकार भी केवल प्रत्यक्षगत आकृतियों को ही चित्रित नहीं करता, वह कल्पित आकृतियों को भी चित्रित करता है और उन आकृतियों में विषयिता को चित्रित करता है । ये "पर-काय-प्रवेश" अस्तित्वात्मक नहीं होकर कल्पनात्मक होते हैं यह तथ्य इस "प्रवेश" को चेतना के गहनतर स्तर पर स्थापित कर देता है : तत्त्वों या अर्थों के स्तर पर । और जैसे पर-काय-प्रवेश में योगी के लिए अपनी काया भी अतिक्राम्य होती है उसी प्रकार कलाकार के लिए पर-चित्त-प्रवेश के लिए अपना चित्त और पर-काय-प्रवेश के लिए अपनी कायिक विषयिता अतिक्राम्य होती है ।

---

1. उस ईश्वर ने कामना की कि मैं उत्पन्न होऊँ, अभिव्यक्त होऊँ और अनेक हो जाऊँ । इसके लिए उसने अपने को तपाया और इस प्रकार वह सब सृजित किया जो यह सब है । उसका सृजन कर वह उसी में प्रविष्ट हो गया । तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.61

2. 'देहात्म' के स्वरूप पर विचार के लिए द्रष्टव्य यशदेव शल्य "विषय और आत्म" में "विषय" शीर्षक अध्याय (अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, 1972)

किन्तु यहाँ आपत्ति हो सकती है कि विषयिता की अतिक्राम्यता के प्रतिपादन में आत्मा में विषयिता की औपाधिकता पूर्वगृहीत होती है जबकि विषयिता को व्यक्ति के चैतसिक-आध्यात्मिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा ही समझा जाता है। इस विषयिता को कम से कम उस आत्मा से अभिन्न ही कहा जा सकता है जिसे हमने प्रथम अध्याय में अवर आत्मा कहा है। निश्चय ही यह आत्मा वर आत्मा के लिए औपाधिक ही होता है; किन्तु वृत्ति के स्तर पर यह उपाधि निवार्य नहीं हो सकती, और कलाकार वृत्ति के स्तर पर ही रहता है, वह उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। दर्शन में यह अतिक्रमण कम से कम आदर्शतः संभव होता है, क्योंकि दर्शन शुद्ध प्रेक्षक-भाव को लक्षित करता है। किन्तु कला प्रेक्षकभाव को लक्षित नहीं करती। वह विषयिता की विमर्शक होने पर भी विषयिता में ही प्रतिष्ठित रहती है और उसी को लक्षित करती है।

संभवतः यह आपत्ति सही नहीं है। आत्मचेतन चेतना वृत्तियों में अवस्थित रहते हुए भी उन्हें उपाधियों के रूप में ही देखती है और इस प्रकार वह विभिन्न विषयिताओं में संक्रमण करने में समर्थ होती है। यद्यपि वह निर्विषयी नहीं हो पाती किन्तु कोई भी विषयिता अपनी संरचना और भोगित्व की समग्रता में, व्यक्ति–रूप में, उसके लिए एक संभावना का रूप ले लेती है जिसे वह यथेच्छया अपना सकता या छोड़ सकता है। अथवा कहें, वह सर्वान्तिर्यामिता की सामर्थ्य पा लेता है और कथा के विभिन्न पात्रों, विभिन्न चित्रित व्यक्तियों, दृश्यों या स्थितियों की विषयिताओं में अवतरित होकर उनके अनुभवों का भोक्ता या आस्वादक, विचारों का विचारक, ऊहापोहों में अनिर्णयाकुल, हो पाता है। कहते हैं शंकराचार्य को रति के अनुभव को "देखने" के लिए अपनी देह से निकल कर अन्य की देह में प्रवेश करना पड़ा था क्योंकि वे एक ओर ब्रह्मचर्य का त्याग नहीं करना चाहते थे और दूसरी ओर रति के अनुभव को 'देखना" चाहते थे। किन्तु इस कल्पना में एक गहरी भ्रांति ही प्रतीत होती है, क्योंकि कोई भोग की वस्तुता में अस्तित्वतः अवतरित होकर ब्रह्मचारी नहीं रह सकता, वह अवतरण चाहे कायान्तर के माध्यम से ही क्यों नहीं हो। किन्तु कलाकार यह कर पाता है, क्योंकि वह विषयिताओं का कल्पना द्वारा सृजन कर उनमें उनके सर्जक के रूप में ही अनुप्रविष्ट होता है और उनका साक्षात्कारात्मक भोग करता है। उसका यह कृत्य उपनिषद्-निरूपित उपर्युक्त ईश्वरीय आत्म-सर्जन से उपमेय होता है।

यहाँ कला को "कल्पनात्मक सृजन" और "साक्षात्कारात्मक भोग" कहने के औचित्य का कुछ और स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ऊपर हमने कला को "भावना का आत्म-निरूपण" कहा। यह परिभाषा जबकि संगीत और गीतिकाव्य के लिए सहज उपयुक्त प्रतीत होती है चित्र, मूर्तिकला और कथा-साहित्य के सम्बंध में दूराकृष्ट ही लगती है। इन कला-रूपों में एक विषयानुरूपता अपेक्षित होती है, बहुत से कथा-साहित्य में तो जीवन का एक अत्यन्त व्यापक परिप्रेक्ष्य भी निरूपित होता है जिसमें कलाकार बहुत बार विषय-प्रेक्षक की भूमिका में भी रहता है। हास्य-व्यग्यात्मक रचनाओं में यह विशेष रूप से होता है। इस विषयनिष्ठता के लिए घटनाओं और सम्बंधों की व्यवस्था के तर्क का अनुसरण भी अपेक्षित

होता है। ऐसे में कल्पना, 'सृजन' और 'भोग' आदि शब्द अतिशय सरलीकरण जैसे लगते हैं। दूसरी ओर कल्पनात्मक सृजन स्वप्न और अनुकरणात्मक बाल-क्रीड़ाओं[3] में भी परिलक्षित होता है। स्वप्न में कल्पना आत्मचेतन नहीं होने से कला की कल्पना उससे भिन्न प्रकार की कही जा सकती है किन्तु बाल-क्रीड़ा में कल्पना कलात्मक कल्पना के अनुरूप सायास होती है। वास्तव में बाल-कल्पना और कलात्मक कल्पना में एक अद्‌भुत् साम्य होता है : बच्चे किसी वस्तु को अन्य वस्तु की स्थानीय बनाकर उसके साथ ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वही वास्तव व्यक्ति या वस्तु हो। व्यक्ति के लक्षित होने पर वे उसके/उनके स्थानीय के रूप में अपने को प्रतिष्ठित कर लेते हैं। किन्तु आवश्यकता होने पर वे भौतिक वस्तुओं में भी व्यक्तित्वाक्षेप कर लेते हैं। किन्तु दूसरी ओर बाल-कल्पना और कलात्मक कल्पना में यह अन्तर रहता है कि बाल-कल्पना में कल्पना द्वारा स्थापित विषय में लक्षित विषय की अनुरूपता निर्मित करने का कोई प्रयत्न नहीं रहता, उसमें भौतिक या संरचनात्मक किसी भी अनुरूपता की अपेक्षा नहीं की जाती। यदि प्रतीक की परिभाषा यह की जाय कि "उसका अस्तित्व प्रत्यय को व्यंजित करने के लिए होता है, अपने लिए नहीं"[4] तो बाल-क्रीड़ा में प्रतीक-रचना अपने आदर्श रूप में देखी जा सकती है। कला-सर्जन में इसके विपरीत कला-कृति में व्यंग्य से अनुरूपता लाने का प्रयत्न किया जाता है और व्यंग्य स्वयं प्रत्यय के व्यंजक के रूप में कल्पित होता है। पोर्ट्रेट और प्रकृति-चित्र इस प्रतिपादन के स्पष्टतम उदाहरण कहे जा सकते हैं। पोर्ट्रेट जिस आकृति को चित्रित करता है वह यदि अपने भौतिक आकार में चित्रणीय हो तो कलाकृति छाया-चित्र की एक असम्यक् स्थानापन्न होगी। किन्तु कलाकृत चित्र आकृति के भौतिक अस्तित्व का अनुकारक होता ही नहीं, वह व्यंजक आकृति की अनुकृति होता है जिसका व्यंग्य कलाकार द्वारा साक्षात्कृत प्रत्यय या अर्थ होता है। इस साक्षात्कार का करण प्रतिभा बनती है। इसी अर्थ की व्यंजना जब चित्रकार किसी वास्तव आकृति के माध्यम के बिना करता है तब वह अर्थ अपनी व्यंजक आकृति के साथ ही साक्षात्कार के लिए प्रस्तुत होता है। परिणामतः यह आकृति बाल-क्रीड़ा में कल्पना द्वारा प्रतीकीकृत वस्तु के समान यादृच्छिक और अपनी आकृति में अप्रासंगिक नहीं होती बल्कि कलाकार की साक्षात्कारी प्रतिभा को अर्थ के बाह्य विग्रह के रूप में प्रस्तुत होती है जो एक-साथ सत्य और कल्पित होता है। सत्य इस कारण कि वह चित्रकार की चेतना में प्रत्यय के वास्तव आकार के रूप में बर्बस आविर्भूत होता है और कल्पित इस

3. बच्चों की सब अनुकरणात्मक "रचनाओं" के लिए "क्रीड़ा" शब्द का प्रयोग संभवतः उपयुक्त नहीं है। अनुकरणात्मक कुछ "रचनाएं" जबकि विनोदात्मक होती हैं, कुछ अन्य "रचनाएं" आवेग-व्ययात्मक होती हैं। इन दूसरी "रचनाओं" के विनोदात्मक नहीं होने से इन्हें 'क्रीड़ा' कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इनमें एक बाह्य रचनात्मक भेद भी होता है। विनोदात्मक रचनाओं में जबकि उपलब्ध होने पर अनेक बच्चे सम्मिलित होते हैं आवेग-व्ययात्मक "रचनाओं" में एक ही बच्चा रहता है, शेष पात्रों का प्रतिनिधित्व वस्तुएं करती हैं। किन्तु अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में हम इन सब "रचनाओं" के लिए 'क्रीड़ा' शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं।

4. द्रष्टव्य आनन्दकुमार स्वामी-ह्वट इज् सिविलिज़ेशन ? इन्दिरा गाँधी नेशनल सेन्टर फॉर आर्ट्स, नई दिल्ली, 1891 पृष्ठ-125.

कारण कि वह चेतना के रचनात्मक व्यापार का प्रतिफल होता है। कला की अन्य विधाओं में भी प्रत्यय और कलाकृति के बीच सम्बंध का रूप थोड़े भेद के साथ यही होता है। उदाहरण के लिए नाटक को लें। मान लें कि नाटककार किसी सामाजिक परिस्थिति को प्रदर्शित करना चाहता है। तब सर्वप्रथम वह परिस्थिति किसी मूल्यात्मक प्रत्यय के रूप में भावित होती है और यह भावित प्रत्यय विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियात्मक व्यवहार की व्यवस्था के रूप में आकारित होता है। यद्यपि इन व्यक्तियों की आकृतियाँ और मुद्राएं कलाकार को दृष्टिगम्य रूप में पूर्ण स्फुटता के साथ प्रदत्त नहीं होतीं किन्तु उनकी निश्चित आकृतियाँ और मुद्राएं होती हैं जो कलाकार को न्यूनाधिक स्फुटता के साथ सहज प्रदत्त होती हैं। यह स्फुटता कलाकार की प्रतिभा और अवधान-क्षमता के अनुसार होती है। अब, ये आकृतियाँ, विशेषतः उनकी मुद्राएं, जबकि अंशतः कलाकार के संस्कारों से भी निर्धारित होती हैं ये उस नाटक की कल्पना में उसमें निरूप्य प्रत्यय से ही निर्धारित होती हैं और वह उनका साक्षात्कार उस प्रत्यय के भौतिक विग्रह के रूप में ही करता है। किन्तु इन आकृतियों और मुद्राओं का निर्धारण भी ऐसी आधार आकृतियों (आर्किटाइप्स) और मुद्राओं के रूप में होता है कि एक सीमा में अनेक प्रकार की आकृतियों वाले अभिनेता स्वीकार्य हो सकते हैं और एक सीमा में अनेक प्रकार की मुद्राएं अभिनेय स्थितियों की व्यंजना के लिए उपयुक्त हो सकती हैं। किन्तु यह सीमा उन आधार आकृतियों और मुद्राओं से पूर्णतः निर्धारित होती है जिनका साक्षात्कार नाटककार नाटक में अभिव्यंग्य प्रत्यय के साथ करता है। द्रष्टव्य है कि प्रायः ही नाटकों में एक ही प्रत्यय के व्यंजक अनेक पात्रों की आवश्यकता होती है—जैसे दास, मंत्री, लिपिक, नेता, राज्याधिकारी आदि—और इन पात्रों की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होना अपेक्षित होता है। किन्तु साथ ही उनमें एक आधार एकता भी अपेक्षित होती है। यह एकता आधार-आकृतिगत ही होती है जो उन भेदों का धारण करती है। द्रष्टव्य है कि अधिकांश में नाटककार, नाटक का अभिनय-निर्देशक और उसके अभिनेता भिन्न-भिन्न होते हैं। जबकि अभिनेताओं का उनकी आकृतियों के अनुसार चयन निर्देशक को करना होता है, वह उन अभिनेताओं को उनकी मुद्राओं के सम्बंध में एक सीमा तक ही निर्देश दे सकता है और अंततः उसे अभिनेताओं की अपनी प्रतिभा पर ही उन मुद्राओं के औचित्य के साक्षात्कार और अभिव्यक्तियों के लिए निर्भर करना होता है। इस प्रकार नाटककार और उसके निर्देशक के बीच और निर्देशक तथा अभिनेताओं के बीच आकृतियों और मुद्राओं का साक्षात्कार संप्रेष्य होता है और वे इन साक्षात्कृत आकृतियों और मुद्राओं की आधार-आकृतियों और मुद्राओं से सम्यक्ता के सम्बंध में परामर्श कर सकते हैं। भावाभिव्यंजक चित्र के समान ही भावाभिव्यंजक काव्य भावित प्रत्यय :प्रेम, निराशा, सुख, दुःख आदिः का उपमान, पद-योजना और छंद आदि के माध्यम से साक्षात्कार करता है और इन माध्यमों का चित्रकला तथा नाटक के माध्यमों के समान ही अयादृच्छिक और अपने प्रत्यय से सम्यक् होना अपेक्षित होता है। इनकी सम्यक्ता कलाकार की प्रत्यय के भावन में प्रामाणिकता और साक्षात्कारी प्रतिभा की प्रांजलता और ऊर्जा इन सब पर निर्भर करती है और प्रत्यय के व्यंजक प्रतीक का रूप स्वयं प्रत्यय के स्वरूप और कवि के साक्षात्कार की

परिस्थिति (उसके संस्कार, युग, समाज और तात्कालिक परिवेश) का संयुक्त प्रतिफल होता है। इस कारण कला-कर्म कला-कृति में अपनी सफलता-लाभ करता है और इस सफलता-विफलता को पाठक या दर्शक उतने ही अधिकार से देख सकते हैं जितने अधिकार से स्वयं कलाकार देख सकता है। बाल-क्रीड़ा में जबकि लकड़ी घोड़े का स्थान ले सकती है और एक बच्चा (लड़का या लड़की कोई भी) अध्यापक-अध्यापिका, और दूसरा बच्चा अथवा बच्चे, अथवा कुछ भी, विद्यार्थियों का स्थान ले सकते हैं नाटक में इसके विपरीत यथासंभव अनुरूप पात्रों को ही रखने का प्रयत्न होता है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि नाटक में यह अनुरूपता केवल वांछनीय होती है, अनिवार्य नहीं, और यही बाल-क्रीड़ा में भी होती है। इसका उत्तर होगा कि बाल-क्रीड़ा में किसी कृति का सृजन लक्षित नहीं होता, उसमें केवल विनोद या उद्वेग-व्यय ही लक्षित होता है। कला-कर्म में दोनों ही लक्षित नहीं होते, उसमें कृति का सृजन लक्षित होता है और सृजन में साक्षात्कृत विषयि-प्रत्यय को निरूपित करना, रूप और आकार देना लक्षित होता है। कुछ विचारक कला का भी उद्देश्य आवेग-व्यय (रेचन/कथार्सिस) मानते हैं, कुछ इसे सौन्दर्य-सर्जन (सौन्दर्यान्वेषण, सौन्दर्याकांक्षा का संतोष) मानते हैं, और कोई रसोत्पादन को कला का साध्य मानते हैं। किन्तु कला के सम्बंध में ये दृष्टियाँ भ्रान्तिमूलक ही कही जा सकती हैं, यद्यपि क्रमशः उत्तरोत्तर दृष्टि पूर्व से कम भ्रामक कही जा सकती है। उदाहरण के लिए **गोदान** उपन्यास में **प्रेमचंद** या **किस्सा गुलाम** में रमेशचन्द्र शाह न किसी आवेग से मुक्ति खोज रहे हैं और न किसी सौन्दर्य की संकल्पना, रचना या अन्वेषण कर रहे हैं, और न किसी एक रस-विशेष अथवा रस-समवाय की निष्पत्ति ही उनका उद्देश्य है। **गोदान** में प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन की आर्थिक-मानसिक विपन्नता के चित्रण के माध्यम से समाज को एक मूल्य-निद्रा से जगाना चाहते हैं। किन्तु इस उपक्रम में प्रवृत्त होते ही उनके सम्मुख ग्राम-जीवन का एक व्यापक चित्र-पट विशिष्ट व्यक्तियों और उनके सम्बंधों के तर्क के साथ अस्तित्व ले लेता है और वे मानो उसका विवरण मात्र प्रस्तुत करते चलते हैं। केवल यह विवरण विषयपरक नहीं होता, इसमें लेखक पात्रों और सम्बंधों की विषयिता का विवरण प्रस्तुत करता है जो विवरण "बाह्यतः देखकर" नहीं "आन्तरतः तदात्म होकर" ही प्रस्तुत करना संभव होता है। अब इस प्रस्तुति की विलक्षणता द्रष्टव्य है : इसका निरूपण न विशेष होता है और न सामान्य, वह विशेष में आविर्भूत ऐसा सामान्य होता है जो विशेष में ठोस और सीमित होकर सामान्य की असीमता में खुला रहता है, अथवा कहें वह वास्तवता की उपाधि में स्वेच्छया अवतरित संभावनाओं का स्वातंत्र्य होता है। लाइबनीज़ ने इस जगत् को सब संभव जगत्सृष्टियों में उत्कृष्टतम कहा है। संभव की वास्तवता होने से इसका प्रत्यय अनवच्छिन्न है, किन्तु कृति होने से यह अवच्छिन्न होने को बाध्य है। इसी से इसका कर्त्ता इसमें अपने स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति देख सकता है अथवा कहें अनुपहित चेतना इसमें उपाधियों का स्वतंत्र सृजन देख सकती है। यहाँ इसे रमेशचन्द्र शाह के **गोबर गणेश** उपन्यास के उदाहरण से समझना उपयोगी होगा। यह एक आत्मकथात्मक उपन्यास है और इसका नायक विनायक लेखक स्वयं है। **विनायक** का चाचा जगन लेखक के एक कल्पित चाचा का प्रतिनिधि है किन्तु उसकी डायरी

डा. शाह की अपनी डायरी है जो उपन्यास की योजना में विनायक की नहीं रहकर जगन की हो जाती है। इसी प्रकार विनायक की एक कल्पित बड़ी बहन भी है जो इस उपन्यास में उतनी ही सजीव, ठोस और अनिवार्य उपस्थिति है जितना विनायक स्वयं है। अब "आत्मकथा" में इन परिवर्तनों का अर्थ है कि इस आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक की आत्मा अपनी कथा की पुनः रचना करती है और उसके अपने वास्तव जीवन को एक संभावना के ऐसे आविर्भाव में **रूपान्तरित** कर देती है जो घटित होकर उसके पारतंत्र्य में अवच्छिन्न हो गया है। इस उपन्यास के माध्यम से वह अपने इस स्वातंत्र्य की पुनः प्रतिष्ठा करता है। द्रष्टव्य है कि आत्मचेतन होने से यह स्वातंत्र्य मनुष्य को सदैव उपलब्ध रहता है जो अपने आलोचक के रूप में उसमें प्रकाशित होता है। कलाकृति के रूप में यह स्वातंत्र्य क्रियान्वित और चरितार्थ होता है। कलाकार विभिन्न पात्रों, दृश्यों, चित्रों के माध्यम से अपने को पुनारचित करता है—जैसे ईश्वर जगत् के माध्यम से, 'यदिदंकिंच' है उसमें अनुप्रवेश करके, अपने को बहु करता है। संगीत में भी स्थिति इससे मूलतः भिन्न नहीं होती। किसी स्वर-संस्थान के सृजन के समय संगीतकार किसी आवेग या भावना में विह्वल या आप्लावित होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, वह भावना का स्मृति में आह्वान कर उसके अर्थ, उसके प्रत्यय के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है और उस अर्थ का स्वर-संस्थान के रूप में साक्षात्कार करता, अथवा कहें उस स्वर-संस्थान के रूप में उस अर्थ को चरितार्थ करता, उसके असंख्य संभव रूपों में से एक को आविर्भूत करता है। किन्तु साथ ही वह संभावना-स्वातंत्र्य में भी अपने को अधिष्ठित रखता है : जैसे ईश्वर जगत् को रचकर उसमें तदाकार और निश्शेष नहीं होता, बल्कि उसे रचकर उसमें अनुप्रविष्ट होता है। इस सर्जन में वह अपने से भिन्न और पृथक् भी होता है, जो पार्थक्य वेदना के स्मृति बनते ही उत्पन्न हो जाता है। इस पार्थक्य में ही असम्यक्ता और अप्रामाणिकता के आविर्भाव की संभावना भी बनती है जिसे वह उस सीमा तक ही मिटा पाता है जिस सीमा तक वह स्वर-संस्थान का स्मृति से और स्मृति का वेदना से तादात्म्य सिद्ध कर पाता है।

इस प्रकार कलाओं में साध्य अर्थावगाहन के होने से कलाओं का अन्वेष्य सत्य ही ठहरता है, सौन्दर्य नहीं और परिणामतः सौन्दर्य के लक्षित होने पर भी अन्वेष्य सौन्दर्य नहीं होता बल्कि सौन्दर्यगत अर्थ या सत् ही अन्वेष्य होता है। जहाँ स्वयं सौन्दर्य ही साध्य होता है वहाँ उसे उचित रूप में कला नहीं कहकर शिल्प कहा जाय तो अधिक उचित होगा। इस में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका सदैव गौण होती है। उदाहरण के लिए मनुष्य उपयोग की सब वस्तुओं को नयनाभिराम, रसनाभिराम या श्रवणाभिराम भी बनाने का प्रयत्न करता है। किन्तु इन प्रयत्नों में सौन्दर्य स्वयं साध्य नहीं होता, इनमें यह उपयोगी साधन ही होता है। इस पर कहा जा सकता है कि सौन्दर्य की यह साधनता एक गहरे अर्थ में इसकी साध्यता की ही द्योतक होती है, क्योंकि इसका उपयोग वस्तु को ग्राह्य या अधिक मूल्यवान् बनाने में इसलिए किया जा सकता है क्योंकि यह स्वयं में मूल्यवान् और अनुपयोगी होता है। हम इसका स्पष्टतः अनुपयोगी रूप में सृजन भी करते हैं, जैसे ग्रामीण और आदिम सभ्यताओं में भित्ति-चित्रणों और वस्त्र-सज्जाओं आदि में सौन्दर्य का उत्पादन स्वयं में साध्य होता है। इस प्रकार सौन्दर्य मनुष्य के लिए स्वयं में भी

अन्वेष्य होता है और इसके उत्पादन को भी कला कहा जाता है। सौन्दर्य को अपने इस शुद्ध रूप में "प्रतीतिसार" कहा जा सकता है। यह सौन्दर्य चित्त का प्रसादक और उन्नायक होता है, परिणामतः यह मूल्यवान् होता है। किन्तु इसकी साधक कला उस कला से निम्नतर स्तर की ही कही जाएगी जिसमें अन्वेष्य सौन्दर्य नहीं होकर ऐसा अर्थ होता है जो विषयिता की गहन गुहाओं में निमीलित जैसा रहता है और जिसका साक्षात्कार हम आत्म-यौगपद्य द्वारा, आत्मतादात्म्य द्वारा, ही कर सकते हैं। कला-समीक्षक संभवतः इसी को सौन्दर्य कहते हैं। सौन्दर्य-विषयक इस दृष्टि के उदाहरण के रूप में यहाँ पांडेजी की **मूल्यमीमांसा** पुस्तक मे एक उद्धरण देना उपयोगी होगा। उनके अनुसार "प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध में दृश्य का एक कल्पनायोजित प्रतिभास होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि यह सौन्दर्य-बोध कहीं भी हो सकता है। सूर्यास्त अथवा फूल सबको सदा सुन्दर नहीं लगते। दूसरी ओर जिस समय मन एक अवस्था विशेष में होता है और हमारी दृश्य-कल्पना अभ्यस्त और रूढ़ सरणियों की उपेक्षा करती है, सामान्य से सामान्य विषय अपूर्व सौन्दर्य की झलक देने लगते हैं—टूटा हुआ तांगा, गंदी गली, बुझती सिगरेट। न सिर्फ वे विषय जो पहले सौन्दर्य-हीन लगते थे, बल्कि वे भी जो पहले कुरूप लगते थे, दृष्टि-परिवर्तन से क्षण भर में रूपान्तरित हो जाते हैं।"[5] अब, जबकि इसमें यह स्पष्टतः सही है कि ये चित्रांकित विषय दृष्टि-परिवर्तन के साथ रूपान्तरित हो जाते हैं यह सही नहीं है कि ये "सुन्दर" हो जाते हैं। चित्र को इस रूप में "सुन्दर" भी कहा जा सकता है कि वह दीवार पर लटका होने पर दीवार को अलंकृत करता है, उसकी रमणीयता में वृद्धि करता है, किन्तु ऐसा किसी भी अर्थ में सही नहीं कहा जा सकता कि चित्रगत गन्दी गली "सुन्दर" लगती है। चित्रकार का उद्देश्य भी वहां सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करना नहीं होता जो सूर्योदय और उसके चित्र में प्रस्तुत होता है। चित्रकार उस चित्र में या तो अपनी किसी ऐसी स्मृति को व्यंजित करना चाहता है जो उसके चित्त में अर्धस्फुट, श्लिष्ट और गुहागत भावनात्मक अर्थों से मंडित हो गई रहती है अथवा मानव-जीवन की कुरूप, अवांछनीय और हताश परिस्थिति को प्रस्तुत कर उस पर अपनी टिप्पणी करना चाहता है, अथवा ऐसा ही कोई अन्य अर्थ संप्रेषित करना चाहता है। इसी प्रकार टूटे टांगे और बुझती सिगरेट के चित्रण में भी उनका व्यंग्य कोई मार्मिक अर्थ ही होता है। चित्रकार इनके चित्रण में कोई रमणीयता उत्पन्न नहीं करना चाहता, उसे वैसा करना अभिप्रेत हो तो वह टूटे टांगे या बुझते सिगरेट का दृश्य प्रस्तुत नहीं करेगा, वह स्वयं भी इन दृश्यों को देखकर किन्हीं अबोधपूर्व श्लिष्ट अर्थों के लोकोत्तर लोक में प्रस्थित हो जाता है और रंग-रेखाओं में उसी अर्थ को अवतरित करना चाहता है। कला में चित्रित सौन्दर्य भी इसी प्रकार अर्थ-व्यंजना का एक माध्यम बनता है। निश्चय ही कला में सौन्दर्य स्वयं में भी निरूप्य होता है : कुछ आप हँसे, कुछ नयन हँसे, कुछ नयनन बीच हँसे कजराः किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा, यह कला का हीनतर रूप ही कहा जाना चाहिए।

---

5 प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे—"मूल्यमीमांसा", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृष्ठ 191.

यहाँ सौन्दर्य के स्वरूप और कला में उसके निरूपण पर संक्षेप में विचार करना स्थाने होगा। हमने पिछले अध्याय में देखा था कि ऐन्द्रिय संवेदन का तत्त्व जीवन के संरक्षण या पोषण में उपयोगी होना नहीं है, कम से कम इतना मात्र उसका प्रयोजन नहीं होता। बहुत से कृमि दृष्टि होने पर भी उसका उपयोग नहीं करते। खाने और उदर भरने के बीच रसना भी हो, यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियाँ चेतना में किसी अन्य भाव की अभिव्यक्तियाँ होनी चाहिएं। ज्ञान ऐसा एक भाव है। किन्तु यह एकमात्र भाव नहीं है, संवेद की रुचिरता-अरुचिरता इसका दूसरा भाव है। इस दूसरे भाव की विद्यमानता का समर्थन इन भावों की स्वतंत्र मननीयता से होता है: चित्र, संगीत और पाक कलाएं क्रमशः रूप, ध्वनि और रसमूलक मनन या विमर्श की ही प्रतिफल हैं। काव्य और चित्र-कलाओं में स्पर्श का भी विमर्श होता है। यह विमर्श उद्गृहीत इन्द्रियार्थों का शुद्ध विमर्श कहा जा सकता है। इन्द्रियार्थों का यह शुद्ध विमर्श भी कला ही है। अब, यह विमर्श केवल रमणीयता उत्पन्न करने तक भी सीमित रह सकता है और गहनतर और व्यापकतर अर्थ-संपदा की व्यंजना का माध्यम भी बन सकता है। बुझती सिगरेट का चित्र बुझती हुई वास्तव सिगरेट से विच्छिन्न दृश्य का उद्ग्रहण कर अन्य अर्थों की व्यंजना का माध्यम बन पाता है जो अर्थ उतने ही व्यापक और गहन हो सकते हैं जितने किसी कविता-नाटक या कहानी में अथवा किसी निबन्ध में। सौन्दर्य या रमणीयता इस दृश्य में न निरूप्य होती है और न व्यंग्य। निश्चय ही दृश्य के समान ही दृश्य का सौन्दर्य भी व्यंग्य हो सकता है और वह गहनतर अर्थ-संभार को भी धारण कर सकता है। मोनालिसा चित्र या ताजमहल अपनी व्यंजनात्मकता से ही महत्त्वपूर्ण हैं, केवल नयनाभिरामता से नहीं। काव्य में यह और भी स्पष्टता से देखा जा सकता है। काव्य में सौन्दर्य-वर्णन एक व्यापकतर संदर्भ का अंग भी हो सकता है, बल्कि उसके अपने तक सीमित रहने पर वह काव्य उत्कृष्ट काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं बन पाता। और वास्तव में अलंकरण के प्रयोजन से बनायी गई पच्चीकारी, अथवा नख-शिख वर्णन-परक दोहों के अतिरिक्त ऐसी कोई कलाकृति दुर्लभ ही होगी जो मात्र इन्द्रियाभिरामता को लक्षित करती हो। वास्तव में "सौन्दर्य" पद भी मानव के विशेषण के रूप में इन्द्रियाभिरामता से न केवल व्यापकतर अर्थ ही पा लेता है बल्कि भिन्न अर्थ भी पा लेता है। पुष्प का सौन्दर्य उसके वर्ण और रचना-सौष्ठव तक सीमित अवधारणा है और इसी प्रकार पशु का सौन्दर्य भी, किन्तु मनुष्य का सौन्दर्य वर्ण और आकृति-सौष्ठव तक सीमित अवधारणा नहीं है। यह अवधारणा केवल सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं में ही स्वीकृत होती है। नारी का सौन्दर्य शील आदि गुणों का भी समावेश करता है और पुरुष का सौन्दर्य धैर्य, औदात्य आदि गुणों का। बहुत से व्यक्ति अपनी युवावस्था की तुलना में अपने वार्द्धक्य में अधिक "सुन्दर" लगते हैं जिसका कारण उनकी मुख-मुद्रा में मानवोचित गुणों की व्यंजकता का बढ़ जाना होता है। यह बात श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी के यौवन और वार्द्धक्य के चित्रों में सहज ही देखी जा सकती है। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, कला इस आकृतिगत सौन्दर्य-वर्णन तक सीमित नहीं रहती, वह जीवन को उसकी सम्पूर्ण व्यापकता में समझने का प्रयत्न करती है। जो बात सौन्दर्य के सम्बंध में सही है वह रस के सम्बंध में उससे भी अधिक सही है।

निश्चय ही कोई कला-कृति युक्ति-तर्क का सहारा नहीं लेती। भाषा का माध्यम नहीं अपनाने वाली कलाओं में तो युक्ति-तर्क के लिए कोई अवकाश भी नहीं होता। कहा जा सकता है कि संगीत में भावना के अतिरिक्त कुछ और विमृश्य भी नहीं होता। किन्तु इससे कला की सब विधाओं को और उन विधाओं में सब प्रकार की कृतियों को रसात्मक कहना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः एक दोहा भी कलाकृति है और एक महाकाव्य भी, गल्प और कहानी भी कलाकृति है और एक बृहत् उपन्यास भी। इन सब में कलात्मकता का तत्त्व रस में देखना उसी प्रकार युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता जिस प्रकार रमणीयता में। उदाहरणतः **महाभारत** को लें जिसे अभिनव गुप्त ने शान्त रसात्मक कहा है। अब, महाभारत में असंख्य पात्रों के सभी प्रकार के चरित्र और उनके परस्पर सम्बंध निरूपित हैं। उसमें उतने ही विचार, युक्ति-तर्क और ऊहापोह हैं जितने संवेग, भावनाएं और अनुभूतियाँ। ऐसे में उसे एक शांत रसात्मक कृति कहना कैसे उपयुक्त होगा ? इसका उत्तर होगा कि ये सब शांत रस के लिए संचारी भावों का कार्य करते हैं। यह सही है, किन्तु यह सब ऐसे ही सही है जैसे असंख्य सफलताओं-असफलताओं, राग-द्वेष, नीति-अनीति, विचार-वितर्क और चिन्तन-मनन के जीवन की सुदीर्घ यात्रा के अंत में विगतस्पृह व्यक्ति का चित्त शांत होता है। यह चित्त-शान्ति जगद्भाव की निरर्थकता के बोध से निष्पन्न भाव है, इसे चर्वणा से निष्पन्न रस कहना युक्त प्रतीत नहीं होता, न इसकी निष्पत्ति में कारणभूत भावों को संचारी भाव कहना युक्त प्रतीत होता है। अब, यदि थोड़ा गहराई से देखें तो जिस तर्क से **महाभारत** को शांत रस का काव्य कहा गया है उससे शायद ही किसी महान कृति को शृंगार, हास्य या रौद्रादि रसात्मक कहा जा सकेगा। शृंगार रस के कवि शिरोमणी कहे जाने वाले कालिदास तक को किसी कृति को भी शृंगार रस की कृति नहीं कहा जा सकेगा, **रघुवंश** या **कुमारसंभव** को शांत रस की कृतियाँ भी कहना कठिन ही होगा। तो भी, यदि कोई रस ही इनमें देखना हो तो वह शांत ही बनेगा, अभिज्ञान शाकुंतलम् का तो कोई दूसरा रस कहा जा ही नहीं सकेगा। किन्तु एक कृति का उसकी संपूर्णता में कोई एक रस कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उसमें कलाकार विभिन्न भावनाओं, विचारों, उद्विग्नताओं और मननों की प्रक्रिया में जीवन का, अथवा उसके किसी पक्ष का अर्थ समझने का प्रयत्न करता है, अथवा कहें, वह किसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए विभिन्न विषयिताओं और उनके सम्बंधों के संस्थान का सर्जन करता है। जीवन की यह अनेकपक्षता लघु कृतियों में नहीं देखी जा सकती। एक दोहे, एक गीत, एक राग और एक चित्र में एक ही भाव अभिव्यक्ति पाता है, किन्तु इस भाव को भी सदैव रस की संज्ञा देना संभवतः उपयुक्त नहीं होगा। यहां हम इसे अज्ञेय की एक कविता के उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। कविता का शीर्षक है **महीवाल से**।

शान्त हो
काल को भी समय थोड़ा चाहिए।
जो घड़े–कच्चे, अपात्र–डुबा गए मँझधार
तेरी सोहनी को चन्द्रभागा की उफनती छालियों में

उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा
"औ" कहेगा; "आह कितनी तृप्ति !"
क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप बांचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले, वह दीमकों की टोह में है ।
कविजनोचित न हो चाहे, यही सच्चा साक्ष्य है,
एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना ।

इस कविता में जीवन के लौकिक याथार्थ्य के सम्मुख प्रेम की अलौकिक मूल्यवत्ता की पराजय के कटु अनुभव की : जो अनुभव 'अकविजनोचित' वास्तव साक्ष्य से उत्पन्न बोध का परिणाम है : अभिव्यक्ति है । यह अनुभूति विचारशील, विषयनिष्ठ, भावुकता से ऊपर उठकर देखने में समर्थ दृष्टि–सम्पन्न व्यक्ति के संवेदनशील हृदय में जीवन की एक दैनंदिन वास्तविकता के गहन, श्लिष्ट और जटिल अर्थ से आलोकित हो उठने की परिणाम कही जा सकती है । इस अनुभूति की अभिव्यक्ति विषय-प्रत्ययात्मक-निर्वचनात्मक पदावली में भी हो सकती थी । तब इसे दार्शनिक प्रतिपादन कहा जाता । किन्तु इस कविता में अभिव्यक्ति विशिष्ट-परक रूपक के माध्यम से हुई है । प्रथम प्रकारक अभिव्यक्ति में जबकि सार्वभौमता-निरपेक्षता अपरोक्ष होती है, संवेदन परोक्ष रहता है, दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति में संवेदन अपरोक्ष होता है, किन्तु सत्य की प्रत्ययात्मकता-सार्वभौमता परोक्ष रहती है । इस प्रकार इसकी काव्यात्मकता और रूपकात्मकता परस्पर की हेतु हैं, कवि-हृदय में इस सत्य का बोध ही इस प्रकार जन्म लेता है । कथन या प्रतिपादन से इसका यह अन्तर है कि यह न किसी वास्तव घटना का वर्णन है, न वास्तव घटना से आंशिक साधारणीकरण, और न सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन । यह किसी घटना, कुछ घटनाओं, या विचार मात्र से प्रेरित मनःस्थिति द्वारा, अपनी विषयिता को खोये बिना, अभिव्यक्त होने के क्रम में पाया गया एक बिम्ब है । एक प्रकार से कला में बिम्ब का स्थान वैसा ही होता है जैसा भाषा में माध्यम का । यहां सन्देह हो सकता है कि चित्र और संगीत को बिम्बात्मक और रूपकात्मक कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि प्रथम में बाह्याकृति आधार होती है और दूसरी में कोई आधार ही नहीं होता । किन्तु यह सन्देह युक्त नहीं है । चित्रकला में बाह्य आकृति भी भावनात्मक चित्र में प्रतिभासित अर्थों की संकेत और आलंबन ही बनती है और ये अर्थ अभिव्यक्ति के लिए अपना प्रतिबिम्ब रचते हैं । परिणामतः चित्र चित्रित व्यक्ति की बाह्याकृति की अनुकृति नहीं होकर चित्रकार की अंतर्दृष्टि को प्रकट होता है । और अधिकांश में चित्रकार किसी बाह्य आकृति या दृश्य को आलंबन भी नहीं बनाता । संगीत में अभिव्यक्ति का माध्यम ध्वनि होने से बिम्ब स्वर-योजना का रूप लेता है । कला की यह बिम्बात्मकता और उसकी अभिव्यक्ति की रूपकात्मकता इसमें प्रतिभासित और अवगत सामान्य को एक अनिवार्य विशिष्टता और मूर्तिमत्ता दे देती है जिससे यह अपने "कथन" में सीमित और विशेषपरक हो जाता है, किन्तु दूसरी ओर इसका यह विशेष निरपेक्ष और

अविकल्पात्मक-अद्वन्द्वात्मक हो जाता है। उदाहरणतः युग-परिस्थिति से उद्विग्न वाल्मीकि के हृदय में प्रकाशित नैतिक सत्य अपनी सार्वभौमता में निर्बाध है किन्तु अपनी विषयिता में वह अपनी अभिव्यक्ति विशिष्ट व्यक्तियों के विशिष्ट चरित्रों के माध्यम से ही कर सकता है और इस प्रकार वह असंख्य संभव "जगद्-रचनाओं" में से एक हो जाता है। ये अर्थ विषयात्मक सामान्यों के रूप में प्रस्तुत होने पर रामायण की कथा का रूप एक उदाहरण का होता किन्तु विषयिता में प्रस्तुत हो पर रामायण-कथा एक उदाहरण रूप नहीं होकर अर्थ का निजी विग्रह बन जाती है, जो विग्रह अनिवार्यतः मूर्त और विशिष्ट है।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, किसान मार्ग, जयपुर–302015

3

शल्यजी का "कला का अन्वेष्य"*

मुकुन्द लाठ

शल्य जी का प्रयास उद्‌बोधक है । विचार को उकसाता है । लौ देता है । उनके प्रयास को भी हम कला कह सकते हैं, इस अर्थ में कि वह शिल्प के अनुभव का प्रत्यय-चित्र आंकने का सूक्ष्म शिल्प है । "प्रत्यय"-चित्र होने के कारण उसमें दर्शन-सुलभ बुद्धि-विवेक और अपोह तो है ही । "चित्र" इस अर्थ में कह रहा हूँ कि उनकी चेष्टा में ऊह या चिन्तन का कल्पना-पक्ष बहुत उभर कर आता है । उन्होंने कला के अनुभव को प्रत्ययों से आंकने की चेष्टा की है ।

संक्षेप में उनका आंका प्रत्यय-चित्र सामने रखता हूँ, जैसा कि उसे मैं समझ पाया हूँ । फिर उस पर कुछ अपनी बात कहने की ओर मुड़ूंगा, अपने अनुभव से उसको जाँचने-समझने की कोशिश करूंगा ।—अनुभव के प्रत्यय-चित्र को समझने का रास्ता अपने अनुभव के ही ऊहापोह का होना चाहिये ।

एक गहरी अनूठी उद्‌भावना से शल्य जी आरंभ करते हैं । कहते हैं कि कला भी ज्ञान की ही साधना है । वह सुन्दर या "नयनाभिराम"—जो इन्द्रियों को भला लगे—ऐसे किसी रूप की साधना नहीं है । न ही वह "रस" के किसी आस्वाद की साधना है, जैसा कि अकसर माना जाता है । ये उसके सच्चे पुरुषार्थ नहीं हैं । उसका सच्चा पुरुषार्थ ज्ञान है । जिसे हम आम तौर पर ज्ञान कहते हैं उससे कला-साध्य ज्ञान यों भिन्न है कि इसमें विषयी द्वारा विषयिता का ही अवगाहन होता है । यह भी एक तरह का द्रष्टा-भाव ही है, पर उस द्रष्टा-भाव से भिन्न जो साधारण "ज्ञान" में होता है । ज्ञान में विषयी जो कुछ देखता है उसे विषय के रूप में देखता है, चाहे विषय बाह्य हो या ऐसा हो जो आन्तर कहलाता है : हमारी

---

* उन्मीलन-गोष्ठी में प्रस्तुत

राग–द्वेष जैसी भावनायें, जो हमारे विषयी स्वरूप की वृत्तियां हैं, ज्ञान इन्हें भी विषय रूप में ही देखता है। पर कला में विषयी अपनी वृत्तियों का विषय के रूप में नहीं, विषयी के रूप में ही अवगाहन करता है। कला भावना का आत्मनिरूपण है। इसी अर्थ में ज्ञान है, सत्य की खोज है।

इस आत्मनिरूपण में भावना की अपनी वृत्ति में ही भावना का "अर्थ" प्रकट होता है। भावना अर्थ-रूप में "विवर्तित" होती है। अभिप्राय यह है कि भावना अपने आप से अविलग रहते हुए भी एक विलगाव बना कर आत्मावलोकन करती है। देखनेवाली भावना के लिये देखी–जाती भावना "अर्थ" हो जाती है। यही भावना का अर्थ-रूप में विवर्तन है। विषयी के आत्मनिरूपण में प्रकट होने वाले अर्थ की धारणा को समझाने के लिये शल्य जी एक उदाहरण देते हैं। कहते हैं यह स्मृत संवेद की पुनः संवेदनशील प्रतीति जैसा है—भावनामयी स्मृति की भाव–स्पंदित पुनरनुभूति, जिसमें स्मृति नई अनुभूति में अर्थ बन कर आविर्भूत होती है पर विषयार्थ बन कर नहीं, बल्कि "भावित" अर्थ के रूप में आविर्भूत होती है।

भावना के इस आत्मनिरूपण की प्रक्रिया में जो अर्थ आविर्भूत होता है उसी की भाषा, स्वर, रंग–रूप, अंग–विन्यास जैसे माध्यमों में अभिव्यक्ति कला है। भावना के आत्मनिरूपण में आविर्भूत अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में क्या सम्बन्ध है ? स्पष्ट है कि भावना का अर्थ में विवर्तित होना और उसकी कला में अभिव्यक्ति, ये अलग-अलग बातें हैं, इनका व्यापार भी एक नहीं है।

अभिव्यक्ति के प्रश्न पर शल्यजी कहते हैं कि भावना का अर्थ-रूप विवर्त भी अपने-आप में अभिव्यक्ति ही है। विवर्त की प्रक्रिया अभिव्यक्ति की ही प्रक्रिया है। विषयी का जब विषयी द्वारा ही द्रष्टा-भाव से "विमर्श" होता है, अपनी आंख से अपनी ही ओर दृष्टिपात होता है, तो भावना अर्थ का रूप लेती है। यही भावना की यथार्थ अभिव्यक्ति है। इसके बिना भावना के "अर्थ" की बात ही निरर्थक है।

कला इसी अर्थ का काव्य, चित्र, वास्तु आदि में अनुकरण है।

सहज ही प्रश्न उठता है कि कला को कल्पना और सृजन की बात समझा जाता है, ऐसा सृजन जिसमें स्रष्टा किसी अर्थ से बँधा नहीं रहता। शल्यजी के चित्र में कल्पना का क्या स्थान है ? कला का सच्चा पुरुषार्थ अगर सत्य का अन्वेषण है तो इसमें कल्पना बाधक ही हो सकती है, साधक नहीं। सत्य का अर्थ कल्पित नहीं होता, वस्तु होता है।

फिर कला का अर्थ किस अर्थ में सत्य है ? कल्पना का उसमें क्या स्थान है ?

कला के अर्थ में और जिसे प्रायः ज्ञान कहा जाता है उसके अर्थ में जो भेद है उसे शल्यजी चित्रकला, उपन्यास आदि के आधार पर समझाते हैं। चित्रकार जब पोर्ट्रेट बनाता है तब चरित्र, स्वभाव, किसी व्यक्ति का आंतर भाव-रूप, इन्हीं की व्यंजना करता है। प्रकृति के चित्रों में भी दृश्य के किसी गहरे भावार्थ को उभारना ही सच्चा ध्येय होता है। यह खोज सत्य की ही खोज है।

पर "विषयी का सत्य", इस धारणा को कैसे समझा जाये। सत्य का सम्बन्ध विषय से होता है विषयी से नहीं। सत्य के बोध में अगर विषयी की अपनी वृत्तियां आ जायें, राग, द्वेष, भावावेग, तो भ्रांति ही जन्म लेती है, सत्य नहीं। और विषयी जब अपनी वृत्तियों की अभिव्यक्ति करता है तो वहां बात सत्य की नहीं, कल्पना और सृजन की ही होती है। वहां कोई विषय ही जब नहीं होता तो किसी "अर्थ" या "सत्य" की बात भी वृथा है। उत्तर में शल्यजी कहते हैं कि भ्रन्ति की ऐसी धारणा जिसमें राग, द्वेष, भावना या कोई और आंतर वृत्ति इष्ट वस्तु के यथार्थ से हमें भ्रान्त कर देती है, केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बारे में ही बनाई जा सकती है। विज्ञान, इतिहास, दर्शन जैसे विषयों पर यह धारणा पूरी नहीं उतरती। इन विषयों में, स्पष्ट ही, सत्य और भ्रांति में वैसा "है या नहीं है" वाला विवेक नहीं किया जा सकता जैसा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में सम्भव होता है। विज्ञान, इतिहास, दर्शन में एक तो भ्रान्ति हो रही है या नहीं यह निश्चय सदा संशय में रहता है, फिर सत्य के न्यून या अधिक होने की बात भी उठती है। दूसरे, यहां मूल्य की उपलब्धि में कल्पना का भी पूरा हाथ होता है। इसीलिए ज्ञान में सत्य के एकाधिक खरे रूप उभरते हैं, और सत्य की खोज में अनेकान्त निहित रहता है।

कला को उसी अर्थ में सत्य की खोज कहना चाहिये जिस अर्थ में विज्ञान, इतिहास, दर्शन सत्य की खोज हैं। इन विषयों में—या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में भी—भ्रांति की बात तब उठती है जब हम राग-द्वेष के "बस" में होते हैं। पर कला की साधना भी भाव के बस रहते हुए नहीं होती, भाव से अपने प्रकार का विलगाव बना कर ही होती है। यहां विषयी अपनी वृत्तियों के वश में नहीं होता, उनका द्रष्टा होता है और इस द्रष्टाभाव को बनाये हुए उनके अर्थ का अन्वेषण करता है। यह अन्वेषण भी उसी तरह सत्य का अन्वेषण होता है जिस तरह इतिहास, दर्शन, और विज्ञान में होता है। पर यहां विषयी अपनी ही वृत्तियों के तत्त्व को विषयी-भाव में रहते हुए ही देखता है। शल्यजी ने इसे साक्षात्कारात्मक भोग कहा है।

विषयी का यह आत्मावगाहन सृजन का भी बीज होता है। विषयी जब विषयिता से विवश नहीं रहता, उसके भोग से मुक्त हो जाता है, तब विशिष्ट विषयिता के बंधन से छूट जाता है। विषयिता की नई-नई संभावनायें उसकी कल्पना की आंखों के आगे खुलने लगती है जिनमें वह सर्जक के रूप में अनुप्रविष्ट हो पाता है।

बात को शंकर के पर-काय-प्रवेश के दृष्टांत से समझा जा सकता है। कहानी है कि शंकर ने काम पर वाद जीतने के लिये मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर काम का अनुभव किया था और यों काम का उन्हें ज्ञान हुआ था। शल्यजी कहते हैं इसे ज्ञान नहीं कह कर भोग ही कहना उचित है। इसमें विषयी के रूप में विषय का भोग हो सकता है पर ज्ञान का वह विलगाव, वह द्रष्टाभाव, नहीं है जो कला में अपेक्षित है। कलाकार की विषयिता वास्तव भोग की नहीं, कल्पना द्वारा सृष्ट विषयिता की होता है जिसमें कलाकार विषयी के रूप में अभिनिविष्ट होता है, अलग रहते हुए अभिनिविष्ट होता है। उसका पर-काय-प्रवेश

शंकर से भिन्न है। भोग में विषयी के द्रष्टाभाव की आंख तो मुंदी रहती ही है, वह अपनी एकमेव विषयिता से भी बँधा रहता है। कला-व्यापार में ऐसा नहीं होता।

कल्पना अगर नई-नई विषयिता के द्वार खोलती रहती है तो उसके इस व्यापार में सत्य कैसे पकड़ में आता है। भावना के विवर्तन में आविर्भूत अर्थ का सही अनुकरण अगर कला है तो अनुकरण का अर्थ के अनुरूप होना सत्य होगा। माना कि यह सत्य कल्पना द्वारा आविद्ध है, इसमें अनेकान्त भी है, यह सर्वथा निर्भ्रान्त भी नहीं हो सकता, फिर भी "अर्थ के अनुरूप है" यह निकष तो उस पर हावी होता ही है। अन्यथा "सत्य" की बात ही वृथा होगी।

अनुरूपता के तत्त्व को समझने के लिये शल्यजी कुछ उदाहरण लेते हैं। उदाहरण पोर्ट्रेट, दृश्य-चित्र, नाटक, उपन्यास और काव्य से ही विशेषतया लिये गये हैं। उदाहरणों के विवेचन से शल्यजी दिखाते हैं कि कला की इन अभिव्यक्तियों में प्रेम, निराशा जैसे भावित अर्थ का उपयुक्त प्रकाश ही अभिप्रेत होता है। अर्थ की यह अभिव्यक्ति "प्रतिभा" का सहारा लेकर होती है। प्रतिभा विषयी को अपना ही अर्थ देखने की आंख देती है जिसका कि कलाकर कल्पना के सहारे अपने माध्यम में अनुकरण करता है। यह आकृतिगत सही यथार्थ को दिखाने की चेष्टा नहीं होती। यह अनुकरण विषय को नहीं विषयी के सत्य को पकड़ता है। इसमें कल्पना का, सृजन की अगाध संभावना का हाथ होता है। पर सृजन की यह संभावना कोरी कल्पना की थोथी उड़ान नहीं होती। इसके गर्भ में भावित अर्थ को पकड़ने की उपयुक्त दृष्टि होती है। ऊपर कही शंकर की कहानी को आगे बढ़ायें तो शल्यजी की बात कुछ और स्पष्ट हो सकती है। कहते हैं कि जिस राजा के शरीर में शंकर ने प्रवेश किया था उसका नाम अमरू था। अमरू के रूप में शंकर ने काव्य भी लिखा। उसने अपने मुक्तकों में रति के अनुभव का बड़ा सक्षम वर्णन किया है। सर्जक के रूप में रति की विषयि-वृत्ति में अनुप्रवेश करते हुए द्रष्टा-भाव से उसकी अभिव्यक्ति की है। इसमें भोग का साक्षात्कार है, कल्पना द्वारा विषयी के भावित अर्थ का उपयुक्त अनुकरण है। विषयी को यहां कल्पना-सृष्ट इसलिये कहना उचित है कि रति का अनुभव जब दृष्ट-अर्थ में विवर्तित होता है तो उसकी एकाधिक संभावनाएं खुल जाती हैं, वह एकाधिक रूप ले सकता है, एकाधिक उपयुक्त रूप ले सकता है। भावित अर्थ को इस रूप में समझना चाहिये कि वह भावना की भूमि में एक प्रत्यय जैसा होता है। वह वैसे ही एकाधिक रूप ले सकता है जैसे मेज़ का प्रत्यय एकाधिक मेज़ों में "अनुकृत" हो सकता है। और यहां भी उपयुक्त अनुकृति बिना कल्पना के सहारे नहीं हो सकती।

अब कुछ अपनी बात पर आता हूं। पहली बात तो यह कि मुझे लगा कि शल्यजी के निबंध में दो बातें हैं जो दो भिन्न दिशाओं में उन्हें खींचती दिखाई देती हैं। कला में होने वाले आंतर व्यापार का जो तत्त्व-दृष्टि से उन्होंने प्रत्यय-चित्र बनाया है वह उन्हें एक ओर ले जाता है, पर जिन उदाहरणों पर उनके ऊह का आधार टिका है वे बात को दूसरी ही दिशा में खींचते हैं। उनकी तत्त्व-दृष्टि संगीत, नृत्य, वास्तु जैसी कलाओं के उपयुक्त लगती है। यह सारा व्यापार विषय से अछूता-सा लगता है। यह भी लगता है कि इनमें विषयी

अपना ही संधान-सा भी करता है। अपने ही किसी मर्म की, उपयुक्त साध्य, पाने-योग्य पुरुष-"अर्थ" की साधना करता है। पर शल्य जी को जो उदाहरण सहज ही सूझे हैं, जिनके अनुभव पर उन्होंने मनन किया है वे संगीत जैसी कला के नहीं, नाटक, उपन्यास, मूर्ति, चित्र के हैं। इनमें विषयी की भी स्वतन्त्र और पृथक् प्रतीति होती है। शल्यजी के विचार-तन्त्र में ये अनायास समाते से नहीं लगते। इस विसंगति की उन्हें भी प्रतीति है। वे कहते हैं कि ऐसा भान हो सकता है कि उनका चिन्तन संगीत जैसी अमूर्त कलाओं के ही उपयुक्त है, मूर्त कलाओं को नहीं समेट पाता। वे उत्तर भी देते हैं, लेकिन मैं नहीं समझता कि बात बन जाती है। क्योंकि मूर्त और अमूर्त कलाओं के बीच एक तात्त्विक भेद है। मूर्त कला जिस रूप में हमारे आगे आती है उसमें विषयी के सिवा ऐसा भी तत्त्व होता है जिसका विषय रूप में भी अन्वेषण हो सकता है। होता ही है। इसीलिये कला जहां भाषा को माध्यम बनाती है वहां व्यंजना के साथ अभिधा भी होती है। होती ही नहीं, व्यंजना का आधार होती है। उसके बिना व्यंजना की बात निरर्थक है। मूर्त चित्र का भी इसी तरह एक 'वाक्य" होता है जो व्यंग्य से भिन्न होता है। मूर्ति-कला विषय के आधार पर ही विषयी के भावों को उभारती है। वह विषय के स्पर्श से अछूती हो नहीं सकती। उसमें अभिधा और व्यंजना की दो भिन्न कोटियां अनिवार्यतः बनती हैं। इसी भेद को अपनी तरह से उजागर करने के लिये शल्यजी ने दो भिन्न सत्यों की बात की है, विषय का सत्य और विषयी का सत्य। विषयी का सत्य तब प्रकट होता है जब विषयी अपनी ही प्रेम, निराशा जैसी भाव-वृत्तियों के विवर्त-जात अर्थ का कला में उपयुक्त अनुकरण करता है।

पर संगीत जैसी कला में इससे बात क्या बनती है? उसमे किस वृत्ति का अनुकरण हो रहा है इसकी पहचान ही कैसे हो, उपयुक्तता की बात तो दूर? प्रेम, निराशा जैसी वृत्तियों की पहचान हमें विषय के माध्यम से ही होती है। हमें लोक में, विषय-जगत् में, इनका अनुभव होता है, वहीं इनकी पहचान होती है। हम व्यवहार में इन्हें नाम देते हैं, इनमें विवेक करते हैं और इनकी एक विशेष अभिव्यक्ति को कला कहते हैं। पर इन वृत्तियों की पहचान उन्हीं कलाओं में बनी रहती है जिनमें विषयी के साथ-साथ विषय की भी उपस्थिति होती है, अभिव्यक्ति जहां लोक-स्पर्शी होती है। लेकिन संगीत में—या नृत्त या वास्तु में—किसी नियत भावित अर्थ का अनुकरण हो भी रहा है या नहीं, इसकी पहचान कैसे हो?

एक रास्ता अनुवाद का हो सकता था। अगर नाटक, चित्र, उपन्यास का अनुवाद संगीत में हो सकता तो हम कह सकते कि "वही" भाव हैं। पर ऐसा होता नहीं है। बल्कि कला के किसी भी माध्यम से दूसरे माध्यम में अनुवाद की बात ही अटपटी सी है। उन मूर्त कलाओं में भी बात अटपटी सी है जिनमें विषय की स्पष्ट उपस्थिति होती है। इन कलाओं में एक का दूसरे में प्रतिबिंब उभारने की, एक को दूसरे के अनुरूप साधने की भी चेष्टा होती है, जैसे किसी कहानी के अनुरूप चित्र बनाना, या किसी उपन्यास को फिल्म में उतारना। ऐसी साधना को किसी अर्थ में अनुवाद कह भी सकते हैं। पर बात बनी या नहीं यह उसी हद तक स्पष्ट होता है जहां तक दोनों की "अभिधा" में साम्य होता है, भाव का अनुवाद तो नया

भाव ही पैदा कर देता है। और नये भाव को किसी पूर्व-सिद्ध नियत अर्थ का अनुकरण कहा जाये या नये अर्थ की सृष्टि, यह प्रश्न सताने लगता है। और फिर भिन्न माध्यम भिन्न भावों को सृष्ट करते जान पड़ते हैं। अमूर्त माध्यमों में यह बात और भी साफ उजागर होती है। मैं नहीं कहता कि इनमें साम्य की खोज नहीं की जा सकती, एक हद तक यह भी संभव है: स्वरों के रंग की बात की गई है, रागों के चित्र भी बनाये गये हैं, वाल्ट डिस्नी ने तो रंगों की अमूर्त छटा बिखेरते हुए बीथोवन की एक सिम्फनी पर पूरी फिल्म ही बना डाली थी। पर इन बातों के होते हुए भी हर कला के वैषम्य का वैभव ही उसकी स्वतंत्र निधि है, उसका अपना स्वत्व है।

शल्यजी का अवधान आंतर व्यापार की ओर ही अधिक रहा है। विभिन्न कलाओं के भेद की ओर से उन्होंने कतराने की ही कोशिश की है। भाव-विवर्त के रास्ते जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, जब वही यथार्थ अभिव्यक्ति है तो फिर कला के किसी भी माध्यम में उसका प्रकाश, यह तो उस अभिव्यक्ति का अनुसरण मात्र ही रह जाता है। और यह अनुसरण किसी भी माध्यम में हो सकता है। यहां एक प्रश्न तो अनुवाद का उठता है जो हम अभी ऊपर उठा चुके हैं, एक दूसरी और गुत्थी सामने आती है।

शल्यजी का निबंध कला के अनुभव का प्रत्यय-चित्र है। पर किसके अनुभव का? कलाकार के अनुभव का या सहृदय के अनुभव का? शायद इसे सहृदय की दृष्टि से कलाकार के अनुभव की आंकने को चेष्टा कहा जा सकता है। सहृदय के लिये माध्यम एक माध्यम मात्र हो भी सकता है—भाव, या भाव रूपी "अर्थ" कहिये, उस अर्थ तक पहुंचने का एक द्वार होता है जो अर्थ को पा लेने पर अनर्थक सा हो जाता है, जैसे अर्थ को समझ लेने पर वाक्य। पर कलाकार के लिये माध्यम ही महिम होता है। उसका पहला और सबसे बड़ा सलूक माध्यम से होता है। और माध्यम उसके लिये किसी पूर्व-सिद्ध अर्थ को कह देने भर का उपकरण नहीं होता। माध्यम में वह किसी सिद्ध अर्थ का अनुकरण करता भी हो तो भी इससे अधिक गरिमा वह एक दूसरी बात को देता है। जितना वह माध्यम से अपनी बात कहलाता है, माध्यम को उपकरण बनाता है, उतना ही माध्यम का आप भी उपकरण बनता है—माध्यम उसे ऐसी दिशाओ में खींच कर ले जाता है, भावनाओं के ऐसे नये द्वार, आंगन, गलियारे, मार्ग खोलता है, जो स्वतन्त्र रूप से उसके लिये ओझल ही होते हैं। माध्यम भवनाओं की अभिव्यक्ति ही नहीं करता, नई भावनाओं की सृष्टि भी करता है। इसे किसी भावित अर्थ का अनुकरण नहीं कह कर नये अर्थ की सृष्टि कहना ही उचित होगा, ऐसी सृष्टि जो माध्यम के आलंबन से होती है और उसके बिना, उससे अलग, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अलग अलग माध्यम अलग अलग प्रकार की सृष्टि करते हैं। अपने अलग भाव-लोक बनाते हैं। कई कलाकार अपने माध्यम के बाहर, किसी दूसरे, अनसाधे माध्यम में अपने-आप को अजनबी सा भी पाते हैं। सहृदय का भी यही हाल होता है। माध्यम के साथ कैसा सलूक हो इसकी एक रीत होती है जो साधनी पड़ती है, नहीं तो वह परस्पर-भाव का स्पंद, चमत्कार, नहीं जाग पाता जो कला-व्यापार का प्राण है।

पर कला में अगर स्वतन्त्र भाव-सिद्धि की शक्ति हैं तो सत्य या अनुरूपता की धारणा बेमेल सी ही ठहरती है। कला के लिये भाव अगर साध्य हो सकता है, अगर कला नये भावों के द्वार खोल सकती है तो प्रश्न यही होगा कि जिस रास्ते हम चले हैं, चल रहे हैं, वह कितना सार्थक है, किस रूप में सार्थक है. वह सत्य है या नहीं। इस के लिये नई सृष्टि में अनुरूपता की क्या कसौटी बनेगी, यह ऊह के बाहर है।

पर शल्यजी के लिये, लगता है, केवल कल्पना का व्यापार बच्चों के निरे खेल जैसा है या भावना का रेचन, कथार्सिस, मात्र है। पर खेल हो तो बुराई क्या है? खेल भी तो कई तरह के, कई धरातल पर हो सकते हैं खेल नहीं कह कर लीला भी कहा जा सकता है। फिर बात में उथलापन नहीं रहेगा। शल्यजी को लगता है खेल से शिकायत यह है कि खेल में सत्य की बात नहीं उठती। खेल में कल्पना होती है, सृष्टि होती है, खेल अच्छा-बुरा, खरा-खोटा, ऊंचा-नीचा, मीठा-तीखा, गहरा-उथला, रंगीन-सपाट... हो सकता है पर उसके लिये सत्य की बात बेबात हैं।

शल्यजी ने, मैं समझता हूं, एक बहुत मर्म की बात कही है। उन्होंने कला को अर्थ का अन्वेषण बताते हुए कहा है कि जैसे विचार प्रत्यय के माध्यम से विषय के सत्य का अन्वेषण करता है यों ही कला की साधना भी भाव के प्रत्यय बुनने की साधना होती है, इसमें विषयी विषय के नहीं अपनी ही वृत्तियों के विवर्त-जात अर्थ को पकड़ने की साधना करता है। मैं समझता हूं कि बात में तत्त्व है, पर बात एकांगी है। इसमें माध्यम की स्वतन्त्र महिमा को नहीं देखा गया है। कलाकार की चेष्टा अंतर में उद्भूत या आविर्भूत या विवर्तित या भावित अर्थ की अनुकृति बनाने की ही साधना नहीं है। ऐसा मानने पर जिस माध्यम में अनुकृति बनती है वह एक करण या उपकरण मात्र हो जाता है, कलाकार का उससे उचित संबंध उस पर प्रभुत्व का संबंध बनता है। कलाकार माध्यम में कुशल हो तो अर्थ की अनुकृति निर्बाध होगी, अन्यथा नहीं। कला की साधना भी कुछ वैसी ही साधना होती है जैसी प्रत्यय के माध्यम से विचार की। इसमें भी कल्पना से, नई सूझबूझ से, नई सृष्टि करते हुए कुछ साधा जाता है। यहां भी साधक और माध्यम के बीच एक परस्पर-भाव होता है। दोनों एक-दूसरे के उपकरण होते हैं। जैसे पतंग उड़ाई जाती है—कुछ उड़ानेवाला उड़ाता है कुछ पतंग आप उड़ती है, उड़ानेवाले को खींच कर ले जाती है कि यों उड़ूंगी। पर विचार में इस साधना का आदर्श किसी सत्य का संधान होता है, विषय के अनुरूप होने की सिद्धि की जाती है। शल्यजी के निबंध में भी यह बात है। पर कला को सत्य की धारणा से जोड़ना ठीक नहीं। उसका अपना साध्य होता है जिसे सत्य का नाम देना वक्रोक्ति ही हो सकता है। बात का यही अर्थ हो सकता है कि वह भी सत्य जितना ही महत् पुरुषार्थ है, उतना ही साध्य है।

अन्त में शल्यजी के लेखक एक पक्ष पर विचार करता हुआ उसे अपनी सी एक और दिशा देना चाहता हूं। माध्यम की महिमा का विचार करना चाहता हूं।

शल्यजी के चिन्तन का बीज आत्म-चेतन चेतना के व्यापार पर मनन है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जिसे "विमर्श" कहा है, उस पर विमर्श है। प्रत्यभिज्ञा के अर्थ में 'विमर्श' शब्द का उन्होंने अपनी बात कहने में प्रयोग भी किया है। इस अर्थ में "विमर्श" ज्ञान और सृष्टि, इन दोनों व्यापारों की भित्ति है। विमर्श-व्यापार में विषयी और विषय दोनों का आविर्भाव होता है। विषय वह सभार है जो अत्मावलोकन से विषयी के लिये "अर्थ" के रूप में उभर कर आता है। विषयी इसका द्रष्टा होता है, "जानता" है। और यह जानना ही विषय की सृष्टि का भी बीज है। विमर्श-व्यापार में केवल विषय ही एक समृद्ध संभार लेकर सृष्ट नहीं होता विषयी की विषयि-वृत्तियां भी आविर्भूत होती हैं। साथ ही शल्यजी एक और बात कहते हैं जो प्रत्यभिज्ञा में नहीं कही गई, हालांकि प्रत्यभिज्ञा में कला पर और कला के द्रष्टा-भाव पर जम कर विचार हुआ है। वे कहते हैं कि विषयी, विषयी रहता हुआ भी, अपना द्रष्टा होता है। यही कला-व्यापार का बीज है और यह भी ज्ञान-व्यापार है, रस-व्यापार नहीं, जैसा परंपरा में सोचा जाता रहा है। अवधेय है कि यह परंपरा एक बड़े अर्थ में प्रत्यभिज्ञा वालों की ही परंपरा है। शल्यजी ने इस बात की ओर हमारा ध्यान नहीं दिलाया है, न वे इसके अपोह या खण्डन की ओर मुड़े हैं। उन्होंने अपनी बात को ही युक्तयों से पुष्ट करने की साधना की है। उनकी बात में एक नयापन है जो चिन्तन के नये द्वार खोलता है।

पर अब माध्यम की चर्चा को आगे बढ़ाता हूं।

चेतना में विमर्श का व्यापार बिना किसी बाहरी सहाय के, उसकी अपनी ही प्रक्रिया का, अपने ही बूते पर स्वतन्त्र व्यापार नहीं होता। इस व्यापार का माध्यम या आलम्बन होता है। एक नहीं एक से अधिक माध्यम होते हैं : भाषा, स्वर, रंग-रूप-रेखा, अंगहार आदि। परम शिव का विमर्श निरालम्ब हो सकता है, पर हमारे अनुभव में तो ऐसा नहीं होता। निरालम्ब विमर्श क्या होगा इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। शायद आध्यात्मिक अनुभव में ऐसा होता हो। पर वह व्यापार फिर हमारे अनुभव के व्यापार से बिल्कुल अलग ही होगा और उसका हमारे अनुभव से क्या और कैसा संबंध है—संबंध है भी क्या—यह एक अलग प्रश्न होगा।

आलम्बन के रूप में भाषा की बात अकसर की जाती है क्योंकि चिन्तक अकसर भाषा के ही व्यापारी होते हैं। आत्म-चेतन चेतना को "शब्दानुविद्धा" कहा जाता है। 'सविकल्प" कहा जाता है। मान सा लिया जाता है कि विमर्श का शब्द ही माध्यम है, दूसरे माध्यम हैं भी तो शब्द-वाच्य हैं। पर विमर्श स-विकल्प ही नही, स-रूप, स-अंगहार, स-स्वर भी होता है। और विमर्श के ये स्वरूप अपने-आप में स्वतन्त्र होते हैं। वे वाच्य के पेटे में नहीं समाते। यह तो सही है कि इनका निर्वचन, व्याक्रिया, अंग-विश्लेष हो सकता है। वैसे ही जैसे भाषा का। इसीलिये इनके लक्षण-शास्त्र बनते हैं और ये भाषा में ही बनते हैं। यह विचार का काम है जो प्रत्ययों से होता है और भाषा में ही होता है। इससे यह भ्रान्ति हो सकती है कि विचार ही वास्तव विमर्श है। पर इस भ्रान्ति से अपने को बचा लेना भी विचार का ही काम है, क्योंकि इससे अन्य प्रकार के विमर्षों का स्वातन्त्र्य मिट नहीं जाता।

इससे यही सिद्ध होता है कि विचार आत्म-चेतन चेतना का एक ऐसा विमर्श है जो एक विशेष प्रकार से सब कुछ को विषय बना सकता है। पर विमर्श और भी है। भाषा भी तो और तरह के "विमर्श" करती है, जैसे काव्य में या आख्यान —कहानी-उपन्यास— में !

काव्य, आख्यान, संगीत, नृत्य, नृत्त, वास्तु आदि को "विमर्श" इसलिए कह रहा हूं कि इन सबसे एक द्रष्टा-भाव होता है— जैसा कि शल्यजी ने कहा। इस द्रष्टा-भाव के बिना माध्यम विमर्श का माध्यम नहीं बन पाता। इसलिये हम चाहे कलाओं को चौंसठ मानें या इससे भी ज्यादा, हर कला को विमर्श की श्रेणी में नहीं रख सकते। कला मात्र में एक भोग का पक्ष होता है। ऐन्द्रिक भोग का पक्ष। नई सृष्टि का भी पक्ष होता है। पर साथ ही अगर द्रष्टा-भाव का पक्ष न हो तो उसे विमर्श का माध्यम कहने में संकोच होता है। गंधी का काम या भोजन बनाने का काम कला है, पर इस अर्थ में विमर्श नहीं। इनमें द्रष्टा भाव आच्छन्न सा ही रहता है। ऐन्द्रिक भोग से अभिभूत।

माध्यमों को हम दो बड़ी कोटियों में बांट सकते हैं। कुछ माध्यम ऐसे हैं जो विषय की ओर मुँह किये होते हैं, जैसे भाषा। अभी पिछले दिनों तक चित्र, मूर्ति-कला भी इसी वर्ग में आते थे। अभिनय और नृत्य भी इन्हीं के साथ के हैं। इनमें व्यवहार-सिद्ध विषय-लोक का अनुकरण संभव है। उसकी उपस्थिति बनी रहती है। दूसरी कोटि में संगीत, नृत्य, वास्तु, इनका स्थान है। ये विषय की छाया से रहित हो सकते हैं।

पहली कोटि के माध्यमों में अभिधा और व्यंजना जैसा भेद किया जा सकता है। इनमें विषय की अभिव्यक्ति से विषयी की अभिव्यक्ति का विवेक करना व्याकृति का एक सार्थक प्रयास होता है, जैसा शल्यजी ने किया भी है। अभिनवगुप्त जैसे रस-शास्त्रियों का भी यही प्रयास रहा है। पर दूसरी कोटि के माध्यमों में विषय की उपस्थिति नहीं होती।

यों "नहीं होती" कहने के साथ-साथ एक और बात की ओर ध्यान दिलाना भी ज़रूरी समझता हूं। प्रश्न उठ सकता है कि माध्यम क्या विषय नहीं हैं? जिसको हम विषय कहते हैं उसी से माध्यम भी बनता है। रंग, रूप, ध्वनि, धातु-पत्थर-मिट्टी, शरीर की चेष्टा....। फिर माध्यम का विषय से क्या भेद है? माध्यम को हम विषय से कैसे अलग करें? माध्यम विषयी नहीं होता और फिर बनता उन्हीं वस्तुओं से है जिनको हम विषय की गिनती में रखते हैं, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बड़े ही ठोस, बड़े साक्षात् विषय होते हैं, जिनका अगर माध्यम के रूप में बोध न हो तो और विषयों की भीड़ में खो जा सकते हैं। फिर माध्यम का विषय से क्या भेद है?

मैं समझता हूं कि कुछ भी हो, माध्यम तभी बनता है जब हमारे आत्म-बोध का सहारा भी हो। उसका यही धर्म उसको विषय से अलग करता है। माध्यम को हम विषय भी बना सकते हैं। पर यह काम भी माध्यम के ही द्वार से होता है। दोनों का ग्राह्य-ग्राहक भाव विविक्त ही रहता है चाहे हम ग्राहक को द्रष्टा भाव से फिर ग्राहक बना कर यों आत्म-बोध की कितनी ही सीढ़ियां क्यों न चढ़ते रहें। ध्वनि से भाषा बनती है तो विषय ही नहीं रहती, विषय की ओर संकेत करने लगती है। फिर भाषा पर चिन्तन होता है। लेकिन यह भी

भाषा से हो होता है। उस चिन्तन पर फिर चिन्तन हो सकता है। चिन्तन के इस नये धरातल पर फिर भाषा ही माध्यम बनती है। पर आपत्ति उठायी जा सकती है कि भाषा की बात और है। दूसरे माध्यमों में यों सीढ़ी चढ़ने की बात, बोध का धरातल-भेद, यह सब बेमानी है। चित्र का चित्र क्या होगा, पहले की नकल ही तो होगी ? अच्छी-बुरी हो सकती है पर उसमें भाषा की तरह नये धरातल चढ़ने की बात करना बेकार है। संगीत का संगीत क्या होगा ? यह कल्पना ही दूर की कौड़ी सी लगती है।

आत्म-चेतना के सीढ़ी-चढ़ते धरातलों पर केवल पुराने की पुनरावृत्ति नहीं होती। नया अर्थ जागता है। यह सीढ़ी अगर सिर्फ यही करती हो जैसा दो शीशों के आमने-सामने रखने पर एक ही बिंब के अनेक हो जाने में होता है—एक के पीछे एक, उसी बिंब की कई अनुकृतियां सज जाती हैं—अगर इतना सा अंतर चेतना के बोध और उस बोध के बोध में हो तो शीशे वाली ही दशा रहेगी। ऐसा भी होता ही है : "मैं मेज़ को जान रहा हूं", "मेज़ के जानने को भी जान रहा हूं"....यह अनुक्रम आगे बढ़ता चला जा सकता है। यह शीशेवाली ही दशा है। चित्र का चित्र, संगीत का संगीत यही कुछ करता जान पड़ता है। पर भाषा के सहारे बोध का बोध एक नया उन्मेष भी लाता है, नया क्षितिज जगाता है। मैं मेज़ को जानते हुए जब पूछता हूं, यह कैसा बोध है ? तो उत्तर देता हूं, यह प्रत्यक्ष है, या यह विकल्प है, या यह अध्यवसाय है तो बात केवल ज्ञान की पुनरावृत्ति की नहीं रहती, नई बात हो जाती है। इस नई बात का इंगित नये शब्दों से मिलता है : प्रत्यक्ष, विकल्प, अध्यवसाय। ये बोध को केवल सीढ़ी नहीं चढ़ाते, एक नया आयाम देते हैं। पहले बोध में आत्म-चेतना भाषा के माध्यम से आंखों के आगे आये विषय को आंकती है। यह आँकना क्या है, कैसा है, यह बात उठते ही दूसरी सीढ़ी झलक आती है। बात विषय से दूर निकल जाती है, पर यह किसी बिंब का सामने के शीशे में दिखता बिंब जैसी दूरी नहीं है। बात ही बदल जाती है। धारणा या प्रत्यय का रूप ले लेती है जो आंखों के आगे नहीं दिखती, आत्म-चेतना और माध्यम की अपनी अलग सामग्री सी बन जाती है। बात अब विचार का रूप ले लेती है। इस विचार पर फिर विचार हो सकता है और विचार की अपनी अलग गति बन जाती है। पर एक बात ध्यान में रखने की है : भाषा के इस सारे व्यापार में बिषय का बंधन बना रहता है, चाहे बिंब-प्रतिबिंब भाव का न हो। विचार में सामने यह कसौटी खड़ी दिखती है कि जो कुछ कहा जा रहा है किसी विषय के बारे में है, चाहे विषय का विचार ही क्यों न हो। "विषय क्या है, क्या विचार उसके अनुरूप है या नहीं" यह प्रश्न बना रहता है और यही सत्य के अन्वेषण का बीज है। चाहे सत्य क्या है, विषय क्या है, इसके बारे में संशय ही क्यों न बना रहे, निर्णय असंभव ही माना जाये, या यह माना जाये कि सत्य बातों की पकड़ में आ ही नहीं सकता।

पर चित्र में यह व्यापार कैसे होगा? और संगीत में ?

शल्यजी के विवेचन को ध्यान में रखें तो रास्ता निकलता दिखता है। उन्होंने ऐसे चित्रों में भेद किया है जो केवल सतही चित्र होते हैं, आकृति मात्र की अनुकृति करते हैं

और दूसरे जो विषयी होते हैं, भीतर की बात कहते हैं। यों बाहर से अंदर की चौखट लांघने के लिये एक काम ज़रूरी होता है। बस अनुकृति बनाने से बात नहीं बनती। जो है, सामने दिखता है, उसको बदलना पड़ता है, प्रत्यक्ष-सिद्ध आकृति में रूपान्तर साधना पड़ता है। चित्र की आकृति तब आत्म-बोध की सामग्री हो जाती है। उस भावमय चित्र की हम चाहें तो नकल बनाते जा सकते हैं जो उस आकृति की अनुकृतियां होंगी, पर उस चित्र के आधार पर एक नया चित्र फिर बन सकता है जो रूपान्तर करता हुआ पुराने भाव को नयापन दे दे या किसी नयी दिशा में ले जाये: नये चित्रों के बनने की यही प्रक्रिया होती भी है। पर जैसे विचार पर विचार में प्रत्यय स्वतंत्रता के एक और ही धरातल की सीढ़ी चढ़ लेता है वैसी ही यात्रा का मार्ग अब चित्र के लिये भी खुल जाता है। चित्र अब अमूर्त होने की दिशा भी ले सकता है। पुराने चित्र का, चित्र-परंपरा का, ऐसा भी रूपान्तर हो सकता है कि चित्र किसी वस्तु की प्रतिकृति रहे ही नहीं। रूपान्तर के इसी रास्ते अमूर्त चित्रों का पथ प्रशस्त हुआ है। यों विषय की छाया से दूर हटता हुआ चित्र विचार की तरह अपना स्वतंत्र लोक बना लेता है। अपने रूपांतरण-व्यापार में चित्रकार पुराने भावों को ही नई तरह से नहीं जगाये रखते, नये भावों को भी जन्म देते हैं। यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसे विचार में प्रत्यय विचार से ही जागे रहते हैं : "वही" बने रहने के लिये भी ऊहापोह के रास्ते नयेपन का स्वीकार करते चलते हैं। पर यही एक नयापन नहीं होता। चिन्तक का विचार-मन्थन नये प्रत्यय भी जगाता है। शल्यजी ने जैसे "प्रत्यय" की धारणा पर कला की दृष्टि से विचार करते हुए "भावित प्रत्यय" या "भावित" की अनूठी धारणा को जन्म दिया है।

पर संगीत जैसे माध्यम में इसकी क्या गति होगी? भाषा और चित्र कितने ही अमूर्त या स्वतंत्र हों, लोक से उनका संबंध बना रहता है। विचार में लोक विषय के रूप में विद्यमान रहता है और चित्र में आकृति के रूप में : चाहे उनका कितना ही रूपान्तरण क्यों न घट गया हो, आकृतियां लोक से ही उद्‌गृहीत होती हैं। उनमें, दूर का ही सही, एक अनुकरण का भाव बना रहता है। पर संगीत में तो लोक का ऐसा कोई स्थान ही दिखाई नहीं देता। भाषा और चित्र की प्रत्यक्-मुख बोध-यात्रा का आरम्भ हमने विषय-प्रत्यक्ष से आंका। संगीत में ऐसी यात्रा को कहां से शुरू करेंगे? हम यही कहते आ रहे हैं कि संगीत में विषय की छाया होती ही नहीं। वह स्वरूप से प्रत्यक्-मुख होता है। फिर उसमें बाहर से भीतर जाने की और यों बोध के धरातल बनाने की बात ही कैसी? विचार की तरह संगीत पर संगीत का क्या अर्थ हो सकता है? यह बात ही अनहोनी सी लगती है।

यहां मैं सोचता हूं कि बात को इस तरह से आगे बढ़ाया जा सकता है। एक अर्थ में हम संगीत में विषय की बात कर भी सकते हैं। संगीत पर विषय की छाया काकु के रूप में मानी जा सकती है। इसमें विषय या आकृति के रूप में लोक-छाया तो नहीं पर हमारे लोक-व्यवहार की छाया होती है। लोक-व्यवहार में घोष, नाद और स्वर, संदर्भ विशेष होते है : आह में, दर्द में, खुशी में, चैन में,....हम खास "सुरों" में उतार-चढ़ाव करते हैं। नाटक में ये काकु बन जाते है। कार्य-कारण भाव से उत्पन्न नहीं होते, विशेष "अर्थ" ले लेते हैं, वैसे ही

जैसे हाथ, पांव, मुँह की विशेष मुद्राएं विशेष संकेत ग्रहण कर लेती हैं। इन संकेतों की तरह काकु का भाषा में अनुवाद संभव है। काकु को हम संगीत की पहली सीढ़ी मान सकते हैं। पर शीघ्र ही स्वर अपना अलग घर बना लेता है। पर लोक से एक संबंध अब भी बना रहता है—या बना रह सकता है। यह संबंध उतना अपरोक्ष नहीं जितना काकु का लोक-व्यवहार से होता है। पर संबंध की प्रतीति फिर भी काफी दृढ़ होती है। हम किसी गीत को स्वर देते हैं या किसी नाटक में स्वर बिठाते हैं तो इनके द्वार से स्वर का लोक से संबंध सधता देखते हैं। स्वर यहां स्वतन्त्र नहीं होता, उपरंजन करता है। जिसका उपरंजन करता है उसका लोक से साक्षात् संबंध होता ही है।

लेकिन यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं कि हम स्वर को गीत या नाटक या ऐसी ही किसी अनुकरण-प्राण कला का उपरंजक ही बनायें। किसी गीत में दिये स्वर को हम गीत से अलग भी कर सकते हैं। करते ही रहते हैं। इस स्वरावली से हम नई स्वरावलियों की नई-नई लड़ियाँ निकाल सकते हैं। संगीत में नई सृष्टि का यह एक जाना-माना मार्ग है। प्रयोजन यह भी हो सकता है कि इन नये स्वरों का प्रयोग हम नये गीतों में, नये नाटकों में करना चाहें। या उन्हीं गीतों, उन्हीं नाटकों को एक नया भाव देना चाहें। शल्यजी की बात को लेते हुए कहें तो कह सकते हैं कि गीत या नाटक एक ऐसे प्रत्यय जैसा होता है जिसे कई स्वर-रूप दिये जा सकते हैं, जैसे मेज़ के प्रत्यय को कई मेज़-रूप। पर "मेज"-प्रत्यय पर ही जब विचार होता है कि यह कैसा प्रत्यय है तो सीढ़ी अमूर्त की दिशा ले लेती है। अब मेज़ें नहीं बनतीं। नये प्रत्यय ही बनते हैं। गीत या नाटक का उपरंजन करने वाली स्वरावली भी ऐसी दिशा ले सकती है। यह दिशा संगीत के लिये सहज है। हम गीत या नाटक को भूल कर स्वर को स्वर में ही बढ़ाने लगते हैं। आलाप करने लगते हैं। इससे सचमुच ही ऐसे रूपों की सृष्टि होती है जिन्हें हम "प्रत्यय" जैसी स्वरूप-में-ही-अमूर्त वस्तु कह सकते हैं। इन्हीं रूपों को हम "राग" कहते हैं। राग का अपने-आप में कोई प्रत्यक्ष रूप नहीं होता। स्वरों की संगति-विशेष की एक अमूर्त कल्पना होती है राग, जिसे कई रूप दिये जा सकते हैं। ये रूप मूर्त होते हैं। पर विषय की उन पर कोई छाया नहीं होती। एक ही राग को कई तरह से निभाया तो जा ही सकता है, आलाप को नई दिशा दे कर उससे नये रागों के निकलने का भी रास्ता खुल जाता है। एक ही राग को कई तरह से निभाने में हम किसी तरह की "अनुरूपता" की बात कर भी सकते हैं— जैसे "मेज़" को रूप देने में। नया निभाव "उसी" राग का निभाव हुआ या नहीं यह बात जांची भी जा सकती है। हर राग की एक "सिद्ध" स्वर-संगति होती है, एक मर्यादा होती है, जिसे निभाया जाता है, जो निभी या नहीं निभी यह परीक्षा भी की जाती है। आलाप का मार्ग इस मर्यादा को मान कर चलता है। पर इसे बदलता भी चलता है। मार्ग पर आगे बढ़ें तो मर्यादा की एक और गांठ खुल जाती है। नये राग उभर कर आने लगते हैं, जिनके बारे में 'अनुरूपता" की बात तुच्छ सी हो जाती है। बस शायद हम इतना ही कह सकते हैं कि जो बना वह किसी राग विशेष के तो नहीं, "राग"-रूपी जाति या सामान्य के अनुकूल है। पर आलाप में और आगे बढ़ते हैं तो "राग" का आदर्श ही बदलता दिखाई देता है। नई तरह

के राग उभर कर आने लगते हैं जो पुराने जैसे नहीं होते। राग क्या है, कैसे निभता है, यह दृष्टि ही एक नई दिशा ले लेती है।

नृत्त का आरंभ भी यों ही लोक में प्रयुक्त मुद्राओं से होता है, जिनका विशेष संकेत होता है और भाषा में अनुवाद संभव होता है। पर स्वर में राग की तरह नृत्त में अंगहार लोक-संकेत से अपने-आप को हटा कर एक स्वतन्त्र संसार बना लेते हैं जिसमें विषयी विषय से असंपृक्त रह कर अपने ही स्वरूप का अन्वेषण कर सकता है। बल्कि "अन्वेषण" कहना ठीक नहीं क्योंकि "अन्वेषण" में भाव यह है कि कुछ पहले से है जिसे खोजना-पाना है। अन्वेषण किसी सिद्ध की साधना है। इसमें किसी "सत्य" की "अनूरूपता" साधी जाती है। इसके लिये विषयी से परे, विषयी से बिल्कुल भिन्न और स्वतन्त्र किसी "विषय" का होना आवश्यक है। पर नृत्त और रागदारी की साधना में "सिद्ध" नहीं "साध्य" प्रधान होता है। यह सत्य का नहीं सृष्टि का व्यापार है। यहाँ "अनुरूपता" की बात का अर्थ ही और होता है—जैसा कि हमने ऊपर देखा। "जिसके अनुरूप है" इस प्रश्न के उत्तर की भूमि विषय नहीं विषयी की ही अब-तक-की-सीधी, अमूर्त रूप-कल्पना होती है। इस रूप-कल्पना को हम चाहें तो 'सिद्ध" या "पहले-से-दी-हुई" कह भी सकते हैं। पर इसे "सत्य" कहने से क्या बात बनेगी? यह ठीक है कि हम अपनी नई सृष्टि में इसकी अनुरूपता भी साधते हैं और उसी को "सच्ची" कृति कहते हैं जो इस "सिद्ध" के अनुरूप हो। पर सृष्टि का अपना "स्वभाव", उसका सही व्यापार, अनुरूपता साधने में नहीं, नये साध्य को पाने में है जिसमें नयापन वहीं तक होता है जहाँ तक कोई अनुरूपता नहीं हो। राग क्या है, राग-भाव क्या है, स्वर क्या है, स्वरों की संगति क्या है, स्वरों का निभाव क्या होता है—ये सब साध्य हो जाते हैं। ये अनुरूपता की मर्यादा को ही चरिष्णु बनाते चलते हैं।

बात को एक और तरह से देखें। संगीत–व्यापार के आरंभ में हम सिद्ध स्वर-विन्यासों की अनुवृत्ति साधते हैं और यों संगीत की किसी परंपरा में जड़ें जमाते हैं। यह परंपरा हमें संगीत ही नहीं देती बल्कि अनुरूपता कैसे निभाई जाती है इसके तरीके, इसका आदर्श भी देती है। साथ ही स्वर से क्या और कैसा भाव जागता है इसका एक स्वरूप और संस्कार बांधती है, "सिद्ध" करती है। ये हमें एक विशेष दिशा में प्रवृत्त करते हैं: हमें प्रेरित करते हैं कि हम परंपरा की अनुवृत्ति बनाये रक्खें—"सिद्ध" का अनुकरण करते हुए बार-बार उसी की सिद्धि करें। उसके अनुरूप रहें।

यह प्रयास आवश्यक होता है। क्योंकि संगीत एक निर्मिति है जो प्रयोग-सिद्ध, आयास-सिद्ध, होती है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की तरह सहज या स्वभाव-सिद्ध नहीं। हम कह सकते हैं कि इस सिद्धि के लिये अब हमारे आयास की कोई ज़रूरत नहीं है। यह काम मशीन भी करती है। बात ठीक है। पर यहीं से हमें दूसरी सीढ़ी की चौखट भी दिखाई देती है। ज्ञान का दृष्टान्त लें। दो दर्पणों के बिंब-प्रतिबिंब-भाव में एक ही बिंब की निरंतर, अनंत अनुवृत्ति होती चली जाती है। मशीन पर संगीत की अनुवृत्ति कुछ ऐसी ही होती है। पर बोध में जब पहले ज्ञान पर विचार होता है तो धरातल बदल जाता है, नया क्षितिज खुल जाता है। यों ही जब

संगीत में अनुवृत्ति बोध की प्रक्रिया का फल होती है तो "उसी" संगीत को प्राणवान् बनाये रखने के लिये दो रास्ते अपनाये जाते हैं। एक तो हम उसे यों बदलते हैं कि "वही" मर्म बना रहे। बदलते तो हैं ही। बदल जाना वस्तु का लक्षण है। प्रकृति भी वस्तु को बदल देती है। मशीन भी बदलती है। आदर्श यह होता है कि आकृति यों की यों बनी रहे। हू ब हू नकल उतर आये। यह और बात है कि आदर्श भी सोलह आने पूरा नहीं होता। पर एक बात ध्यान में रखने की है। मशीन पर अनुवृत्ति किसी सिद्ध "मर्म" को साधने के लिये नहीं की जाती। मर्म को बोध ही साधता है। लेकिन मर्म में एक सहज अनेकान्त है। वह बहरूपिया होता है। पर कितना ही बहुरूपिया क्यों न हो, एक "सिद्ध" मूल की "अनुरुपता" की सिद्धि करता है। दूसरी सीढ़ी नहीं चढ़ता। पर चढ़ने का रास्ता दिखने लगता है। क्योंकि मर्म इस अर्थ में भी बहुरूपिया है कि किसी सिद्ध रूप से नहीं बँधा है। और यों बदलने की प्रक्रिया आलाप का रूप ले सकती है। आलाप में मर्म सिद्ध नहीं रहता, साध्य हो जाता है। हमें संगीत-व्यापार के नये धरातल पर ले आता है।

इसी धरातल पर बोध और माध्यम, इनकी जुगलबंदी होती है। दोनों मिल कर नये-नये रूप साधते हैं। यहां प्रश्न उठता है, उठता रहता है, कि कुछ सिद्ध हुआ या नहीं, कोई नया मर्म पाया या नहीं। पर इसके लिये कसौटी कोई अनुरूपता की नहीं होती। हम चाहें तो कह सकते हैं कि अनुरूपता की बात यहां भी सार्थक है क्योंकि नई अभिव्यक्ति में भी हम मर्म ढूंढते हैं और मर्म है या नहीं यह इसी बात से सिद्ध होता है कि अभिव्यक्ति हमारे बोध के अनुकूल हुई या नहीं। अगर ऐसा नहीं होता तो नई अभिव्यक्तियों में हम विवेक ही नहीं करते : सफल-असफल की बात ही नहीं करते। और किसी भी विवेक की कसौटी में कोई "सिद्ध"—भाव होता ही है।

हो सकता है। पर इस तरह से देखने में एक बात ओझल रह जाती है। बात यह है कि भाव या बोध की अनुरूपता भी इस प्रक्रिया में साधनी पड़ती है। सिद्ध नहीं होती। ज्ञान की प्रक्रिया में जैसे विषय को स्वरूप से ही सिद्ध माने बिना "विषय" की धारणा ही सिद्ध नहीं होती, यहां वैसी बात नहीं है। एक बात और भी है। इस प्रक्रिया में रसिक और कलाकार के बीच एक महत्त्व का भेद होता है। कलाकार, जो बोध और माध्यम की जुगलबंदी साधता है उसके लिये माध्यम अपने-आप में एक इतर जैसा तो होता है, ऐसा इतर जिसका अपना रूप, अपना स्वभाव है, पर वह मात्र इतर नहीं होता, एक दूसरे व्यक्ति जैसा होता है जिसके साथ कई तरह के संबंध जुड़ सकते हैं। हम एक तरह के दास-भाव की भी साधना कर सकते हैं, उसके प्रभु बनने की इच्छा से। ऐसा किया भी जाता है। यह मार्ग अकसर उनका होता है जो अनुवृत्ति साधते हैं। ऐसे लोग माध्यम को मात्र करण बना लेना चाहते हैं। लेकिन कितना भी उसे दास बनाते हुए करण का रूप देना चाहें, उसका अपना व्यक्ति-भाव बना रहता है। जो जुगलबंदी साधते हैं उनके लिये माध्यम एक साथी की तरह होता है। और भी संबंध हो सकते हैं पर इस विस्तार में यहां नहीं जाऊंगा।

रसिक के लिये माध्यम एक "विभाव" होता है। इस अर्थ में विभाव कि वह भाव का एक सधा-सधाया आलंबन होता है। जिसमें वह रम जाना चाहता है, डूब जाना चाहता है। भोग क्या है, भोग्य-कृति कैसी होती है, इसका एक संस्कार बचपन से उसे अपनी परंपरा से मिलता है। इसलिये रसिक के लिये अनुवृत्ति का मार्ग सहज, अनायास होता है। उसके भोक्ता-भाव का संस्कार कहता है कि भुक्त का भोग करो ज़ोर नहीं आयेगा, जो ढलान बनी है उस पर अपने-आप को छोड़ दो, फिसलते हुए मज़े से चले जाओगे, तुम्हें कुछ नहीं करना पड़ेगा। उसके लिये माध्यम एक ऐसा इतर व्यक्ति नहीं जिसका अपना मिजाज़ होता है, जिसके साथ संबंध साधना पड़ता है, बनाये रखना पड़ता है। वह माध्यम से उलझना-जूझना, उस पर काबू पाना, उससे प्यार करना नहीं चाहता है। वह चाहता है कि माध्यम के जाने-पहचाने हाथों अपने को सौंप दे।

पर यह पूरी तस्वीर नहीं है। रसिक में भी कलाकार का अंग होता ही है या जाग सकता है। उसका भावन माध्यम के प्रति अपनी तरह से जागरूक हो सकता है। वह रसिक ही नहीं सहृदय भी बन सकता है। आलोचक भी। फिर माध्यम उस पर भी अपना अलग व्यक्तित्व खोलने लगता है। माध्यम के इस मार्ग में परंपरा और संस्कार का स्थान तो होता है पर विषय का नहीं होता। यह संगीत जैसी कलाओं का मार्ग है।

ए 37/38, विश्वमित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006

माया महा ठगिनी हम जानी
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।
केसब के कमला होई बैठी, सिब के भवन भवानी।
पंडा के मूरत होई बैठी, तीरथ हू में पानी।
जोगी के जोगिन होई बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिन होय बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहै कबीर सुनो भई साधो, यह सब अकथ कहानी।

सौजन्य से

श्री अशोक गुप्ता
बीकानेर मोटर स्टोर्स
जी. एस. रोड, बीकानेर

4

श्रुति की दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक : जैमिनि और बादरायण*

दयाकृष्ण

"इति श्रुतिः" दर्शन का साधारण से साधारण विद्यार्थी इस वाक्य को अक्सर सुनता व पढ़ता है एवं यह भी मानता है कि कम से कम वैदिक परम्परा में श्रुति की सर्वमान्यता व सर्वप्रामाणिकता तो स्वीकृत है ही। और श्रुति क्या है, इसके बारे में भी उसे कोई सन्देह नहीं है, न उसे कभी कोई सन्देह करने का कारण ही बताया जाता है। यह स्थिति तब है जबकि उसी परम्परा में स्पष्ट तौर पर यह भी कहा गया है कि "एको न श्रुतिः यस्य वचः प्रमाणम्।" पर श्रुति क्या है, ऐसा पूछने पर सभी लोग एक स्वर से उत्तर देते हैं कि वेद। कोई यदि पूछे कि वेद क्या है, तो उसी दृढ़ आवाज में उत्तर मिलता है कि—ऋक्, यजुः, साम व अथर्व। वेदों के चार नाम जगत्-विख्यात हैं पर यदि कहा जावे कि तुम यजुर्वेद लाकर दो अथवा उसकी प्रति दिखाओ तो क्या ऐसा सम्भव है ? वास्तव में ऐसा असम्भव है, क्योंकि ऐसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं, जो भी वह लावेगा वह केवल यजुर्वेद ही नहीं कहलायेगा वरन् उसके आगे अवच्छेदक लगा होगा। वह या तो शुक्ल शब्द से अथवा कृष्ण शब्द से विशेषित होगा। लगता है कि गोरे-काले का भेद वैदिक ऋषियों में भी प्रचलित था। इसलिए उन्होंने यज्ञों से संबंधित सबसे प्रधान वेद को काले और गोरे में बांटा। जहाँ एक को शुक्ल कहा गया वहीं दूसरे को कृष्ण। किन्तु दोनों को आमतौर पर यजुर्वेद ही कहा जाता है और यदि कोई पूछ भी बैठता है कि इन दो यजुर्वेदों में, जो शुक्ल व कृष्ण नाम से जाने जाते हैं : क्या भेद है ? तो केवल यह कह कर टाल दिया जाता है कि एक का ब्राह्मण स्वतन्त्र ग्रन्थ है

---

* उन्मीलन-गोष्ठी में प्रस्तुत

जबकि दूसरे का ब्राह्मण ग्रन्थ मंत्रों के साथ ही जुड़ा हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के नाम से स्वतन्त्र रूप से माना जाता है जकि कृष्ण का ब्राह्मण उस संहिता के अभिन्न अंग के रूप में मिलता है। परन्तु यह बात ठीक होने पर भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि यदि कोई चाहे तो सरलता से कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण अंशों को भी अलग कर सकता है, और यदि परम्परा में ऐसा नहीं किया गया तो यह अनिवार्य नहीं है कि अब भी ऐसा न किया जाए। पर अगर दोनों में केवल यह भेद होता तो इन दोनों को यजुर्वेद कहना कोई ग़लत बात न होती। परन्तु जैसा विद्वान लोग जानते हैं, दोनों में केवल यही भेद नहीं है। दोनों के मूल मंत्रों में भी अनेक भेद हैं, उनको हम यजुर्वेद की शाखा के रूप में भी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि यदि हम उनके स्वयं के परम्परागत भेदों को स्वीकार करें तो मंत्र व ब्राह्मण का संबंध जो शुक्ल यजुर्वेद में मिलता है वैसा ही कृष्ण यजुर्वेद में भी मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। यदि हम कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता को लें और उसकी शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के शतपथ ब्राह्मण के अंशों से तुलना करें तो हमें ज्ञात होगा कि पहले के अनेकानेक मंत्र या ब्राह्मण दूसरी में मिलते ही नहीं हैं। तैत्तिरीय संहिता के 651 मंत्र व ब्राह्मण में से वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में केवल 392 मंत्र ही मिलते हैं। अगर इनमें से ब्राह्मण अंशों को हटाकर हम केवल मंत्रों की ही बात करें जो दोनों में समान है तो उनकी संख्या और भी कम नज़र आयेगी। वाजसनेयी संहिता में मंत्रों की संख्या 3988 समझी जाती है जबकि उनमें पूरी कंडिकाएँ 1975 ही होती हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के बराबर कंडिकाएं ब्राह्मण अंशों को मिलाकर भी केवल 651 ही पायी जाती हैं। कीथ के अनुसार केवल 392 कंडिकाएं ही दोनों में एक साथ पायी जाती हैं।

वेदों के संबंध में और भी अन्य बहुत से प्रश्न हैं जो मैंने अपने लेख "दि वैदिक कॉर्पसः सम क्वश्चंस्"[1] में उठाए हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिसे हम श्रुति कहते हैं और उसमें यदि केवल वेद को ही श्रुति रूप में स्वीकार करें तब भी वह श्रुति क्या है, इसका निर्णय आसानी से नहीं किया जा सकता। यह बात तब और भी गहरी संदेहात्मकता ले लेती है जब हम इस ओर ध्यान दें कि वेदों में अनेक अंश ऐसे भी हैं जिन्हें परम्परा स्वयं 'खिल" रूप में स्वीकार करती है। "खिल" का अर्थ है कि वे वास्तव में वेद का भाग नहीं हैं किन्तु येन-केन-प्रकारेण, अनधिकारी होते हुए भी, उन्हें शामिल कर लिया गया है। यह और भी आश्चर्यजनक लगता है जब वेद के वही मंत्र जो एक वेद में "खिल" माने जाते हैं, दूसरे वेद में ठीक समझे जाते हैं। यह बात हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाती है कि वेद की अलग-अलग संहिताओं में उन्हीं मन्त्रों की बार-बार पुनरावृत्ति होती है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न कही जाने वाली संहिताएं वास्तव में उतनी भिन्न नहीं हैं जितनी कि समझी जाती हैं।

---

1. जे. आई. सी. पी. आर., वर्ष 3, अंक 1

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने लायक बात है कि मूल संहिताओं के स्वयं अनेक शाखा-भेद परम्परा में ही स्वीकार किये जाते हैं और उस शाखा के मानने वालों के लिए वही पाठ प्रामाणिक होता है, किसी अन्य शाखा का पाठ नहीं। शाखाओं का परस्पर भेद कोई ऐसा-वैसा भेद नहीं है, परन्तु जिन शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं यदि उन्हें ध्यान से देखा जाए तो पता चलेगा कि उनमें कई बार तो इतना मौलिक भेद होता है कि उन्हें किसी एक वेद की शाखा के रूप में मानना 'शाखा' शब्द ही के साथ अन्याय करना है। इसके साथ ही अगर हम इस पर भी ध्यान दें कि मंत्र क्या है? तो इसके बारे में ही कोई आम सहमति नहीं है। स्वयं सायण मंत्र का लक्षण बताने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं और इस संदर्भ में अपनी परिचर्चा यह कहकर समाप्त करते हैं कि जिसको याज्ञिक मंत्र मानता है उसे ही मंत्र समझा जाना चाहिए। संहिताओं के साथ कितनी ही समस्याएं रही हों परन्तु उतने से भी अधिक ध्यान देने की बात यह है कि "श्रुति" शब्द को केवल संहिता मात्र से कभी भी सीमित नहीं किया गया, खासकर प्राचीन परम्परा में तो कभी नहीं, हालांकि आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐसी चेष्टा की है एवं शायर भोगीराम अरविंद ने भी ऐसा ही किया है। अनिर्वाण जी की पुस्तक 'वेद-मीमांसा' भी शायद इसी परम्परा में है। पर ये लोग 'श्रुति' शब्द का प्रयोग या तो करते ही नहीं, या यदा-कदा ही करते हैं। परम्परा में तो 'श्रुति' का अर्थ केवल संहिता मात्र से कभी भी नहीं लिया गया। जैमिनि के लिए तो 'संहिता व ब्राह्मण' सम्मिलित रूप में ही 'श्रुति' के पर्यायवाची हैं। हालांकि यह समझना मुश्किल है कि यदि वे ब्राह्मण ग्रन्थों को श्रुति का अनिवार्य अंग मानते हैं तो साथ ही उन्हें अपौरुषेय कैसे मान सकते हैं? पर इसमें भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आरण्यक व उपनिषदों को 'श्रुति' का स्थान नहीं देते हैं एवं उनके लिए तो 'श्रुति' केवल मंत्र व ब्राह्मण तक ही सीमित रहती है। आरण्यक और उपनिषद् उनके लिए श्रुति की परिधि से बाहर हैं। यही नहीं वे श्रुति को प्रधानतः यज्ञ-केन्द्रित मानते हैं एवं इसीलिए उनके अनुसार वेद के मूल वाक्य केवल विधिपरक हैं। वाक्य में क्रिया-पद ही प्रधान है एवं केवल विधि-वाक्य ही वेद-वाक्य माने जा सकते हैं। बाकी सब वाक्य या तो केवल आनुषंगिक हैं या केवल अर्थवाद-वाक्य। 'अर्थवाद' कहने का अर्थ यह है कि जैमिनी के अनुसार विधि-वाक्यों को छोड़कर बाकी सब वैदिक वाक्यों का अर्थ अभिधा के रूप में न लेकर लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए।

इसके बिल्कुल विपरीत बादरायण ने **ब्रह्मसूत्र** में श्रुति का अर्थ प्रधानतया आरण्यक व उपनिषदों तक ही सीमित रखा। उनके लिए संहिता व ब्राह्मण-ग्रन्थ पूर्णरूपेण गौण थे। यही नहीं, उनकी व्याख्या यज्ञकेन्द्रित न होकर 'ब्रह्मकेन्द्रित' थी। इसलिए उन्होंने वैदिक वाक्यों को क्रियाप्रधान या विधि-वाक्यों के रूप में ही स्वीकार नहीं किया बल्कि उनकी प्रधान चेष्टा यही दिखाने की प्रतीत होती है कि जहां कहीं भी उपनिषदों में ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की चर्चा है वहां वास्तव में ऐसा नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने दो नई विधियां अपनाईं: एक यह कि जहां-कहीं किसी वस्तु

के वर्णन में एक ही प्रकार के गुण बताए जाएँ वहां उन वस्तुओं को एक सा ही समझना चाहिए, चाहे फिर उनके नाम भिन्न-भिन्न क्यों न हों। नामों की भिन्नता उसकी भिन्नता को नहीं बताती जिसके वे नाम हैं क्योंकि भिन्नता गुणों के ही कारण हो सकती है, किसी अन्य कारण से नहीं। एक प्रकार से यह उसी बात का विस्तार प्रतीत होता है जो वेद के अर्थों का स्पष्टीकरण करने वाले प्रथम ग्रन्थ **निघण्टु** में किया गया था। वहां भी यह कहने की चेष्टा थी कि वेद को समझने के लिए कई बार भिन्न-भिन्न नामों को एक ही अर्थ में लेना चाहिए। इसके अलावा बादरायण ने एक और सिद्धान्त का भी सहारा लिया जिसके अनुसार अर्थ का निश्चय संदर्भ को देखकर ही करना चाहिए, वाक्यों को संदर्भ से विच्छिन्न करके नहीं। इस आधार पर उन्होंने उपनिषदों की ब्रह्म-केन्द्रित व्याख्या की एवं इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि उपनिषदों का प्रधान विषय ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं। उपनिषदों में स्वयं संहिता और ब्राह्मणों में वर्णित अनेक बातों को प्रतीक के रूप में लेने की कोशिश की गई है। यज्ञ का विचार स्वयं इसका प्रधान उदाहरण है। क्योंकि यज्ञ को केवल वैदिक यज्ञ के रूप में ही न लेकर उसको विस्तृत रूप में लेने की चेष्टा की गई है, जिससे जहां कहीं भी ऐसा प्रतीत हो कि किसी भी वस्तु का त्याग किया जाता है उस त्याग को एक यज्ञ रूप ही समझा जा सकता है। दूसरी ओर उपनिषदों में यह भी प्रवृत्ति मिलती है कि वे एक ऐसी विद्या से सम्बंधित हैं जो सबसे उच्च कोटि की है। वेद जिन विद्याओं से सम्बंधित हैं वे अपरा विद्याएँ हैं, परा विद्या तो उपनिषद् की ही विषय है। परन्तु श्रुति को आरण्यक या उपनिषद् तक ही सीमित करने वाले बादरायण के सामने यह प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ कि आख़िर उपनिषद् है क्या? एक तरह से देखा जाए तो यह प्रश्न उपनिषदों की महत्ता गाने वालों और उनको ही श्रुति का प्रधान अंग स्वीकार करने वालों के बारे में भी सही है। क्योंकि पहले तो उपनिषदों के नाम से जाने-जाने वाले ग्रन्थों की रचना करीब-करीब तेरहवीं शताब्दी तक होती रही जिससे कम से कम यह तो सिद्ध होता ही है कि परम्परा ने उपनिषदों को श्रुति के रूप में इस प्रकार से कभी भी स्वीकार नहीं किया कि उनमें कोई अन्य ग्रन्थ जोड़ा ही नहीं जा सके। जो बात एक समय तक वैदिक मन्त्रों या ब्राह्मणों आदि के बारे में सत्य थी वही बात उपनिषदों के बारे में और भी अधिक काल तक सत्य रही। एक समय ऐसा आया जब नयी संहिताओं की सृष्टि रुक गई, नए मंत्रों, ब्राह्मणों व आरण्यकों का सृजन भी रुक गया एवं यह काल कम से कम ईसा से 6ठी शताब्दी पूर्व तक तो हो ही चुका था। किन्तु उपनिषदों के बारे में ऐसी बात नहीं है, उनकी रचना तो इसके कम से कम दो हज़ार साल बाद तक चलती रही, यदि हम यह मानें कि हमें जो अन्तिम उपनिषद् प्राप्त होती है वह तेरहवीं शताब्दी की रचना है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना तो सहज ही प्रतीत होता है कि अन्ततः तेरहवीं शताब्दी के बाद भारतीय संस्कृति में ऐसा क्या हुआ कि नवीन उपनिषदों का सृजन बन्द हो गया? इसी भांति यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि मंत्र, ब्राह्मण आदि की रचना ईसा की 6ठी शताब्दी पूर्व क्यों बंद हो गयी? और इसके साथ इस सवाल का उठना और भी महत्त्व का है कि आखिर उपनिषद्, जो प्रारम्भ से ही श्रुति के अंग माने जाते थे,

उनकी स्वतन्त्र रचना इतने दीर्घकाल तक क्यों नहीं रुकी ? ध्यान देने की बात यह है कि इसे न बादरायण रोक सके न शंकर, न रामानुज, न मध्व ।

उपनिषदों के संबंध में एक दूसरी समस्या यह है कि बहुत सारे उपनिषद्, कम से कम वे जो अति प्राचीन समझे जाते हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं । 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग इतना भ्रामक है कि बहुत से लोग (विद्वान्) इसे या तो जानते ही नहीं, या जानकर भी भुला देते हैं कि 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग कम से कम उन ग्रन्थों के संदर्भ में, जो प्राचीन व सर्वमान्य हैं और जिन पर अनेकानेक भाष्य लिखे गए हैं एवं जिन पर आज भी अनेक विद्वान्, साधु, संत आदि प्रवचन देते रहते हैं, वे स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर केवल संकलन मात्र हैं, जो किसी व्यक्ति ने कभी किये थे । परंपरा में इस व्यक्ति का नाम व्यास दिया जाता है, परन्तु व्यास ने तो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि सबको ही एक व्यवस्थित रूप दिया था, ऐसा कहा जाता है । परन्तु उसके ही ऐसा रूप देने के बाद उपनिषदों का फिर संकलन किया गया हो, ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता, हालांकि तार्किक दृष्टि से उसके होने में कोई विरोधाभास नहीं है । ध्यान देने की बात तो यह है कि जिन ग्रन्थों में से उपनिषद् संकलित किये गए हैं वे क्या थे और इनके संकलन का आधार क्या था ? 2500 वर्षों की इस लम्बी अवधि तक यह प्रश्न किसी ने नहीं उठाया, यह आश्चर्य की ही बात है । इसमे भी आश्चर्य की बात यह है कि जिन ग्रन्थों में से इनका संकलन किया गया है उनमें कई बार ऐसे अंशों को भी छोड़ दिया गया है जो स्वयं अपने-आपको उपनिषद् उद्घोषित करते हैं, उदाहरण के लिए ऐतरेय उपनिषद्, जो एक प्रकार से सबसे प्राचीन माना जाता है । **ऐतरेय उपनिषद** स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर स्वयं ऐतरेय आरण्यक का एक भाग मात्र है । वास्तव में ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के चौथे, पांचवें व छठे अध्यायों को साधारणतया ऐतरेय उपनिषद् का नाम दिया जाता है, परन्तु इन अध्यायों में कहीं भी न तो 'उपनिषद्' शब्द आया है न उसने अपने–आप में इन अंशों को उपनिषद् बताया है । यह कोई बड़े महत्त्व की बात नहीं होती यदि ऐसा न होता कि इसी ग्रन्थ का तीसरा आरण्यक अपने को उपनिषद् न कहता और अपना प्रारम्भ भी यह कहकर नहीं करता कि "मैं संहिता उपनिषद् हूँ ।" यही नहीं, बल्कि तीसरे आरण्यक के दूसरे अध्याय के पांचवें परिच्छेद (पैराग्राफ) का प्रारम्भ यह कहकर होता है कि वैसे तो ये सभी वाक् उपनिषद् हैं परन्तु यह वाक् विशेष रूप में समझा जाता है । कीथ ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है : "सर्व वाक् रूपी उपनिषद् का प्रारम्भ होता है ।" निःसन्देह ये सभी सर्वमान्य उपनिषद् हैं परन्तु इसको ऐसा विशेष रूप से कहते हैं । परन्तु ऐतरेय आरण्यक में ऐसा स्पष्ट कहने पर भी साधारणतः ऐतरेय उपनिषद् में इन भागों को सम्मिलित नहीं किया जाता । वह तो केवल दूसरे आरण्यक के 4, 5, व 6 अध्यायों को ही अपने में संकलित मानता है । कीथ ने औरों की भांति इस समस्या को नजर अंदाज़ नहीं किया है और इस संदर्भ में अपनी चर्चा के शीर्षक को ही इस प्रकार वर्णित किया है–"ऐतरेय आरण्यक के तीन उपनिषद् ।" उनके अनुसार ऐतरेय आरण्यक के तीसरे खण्ड का नाम संहिता उपनिषद् है, जैसा कि वह स्वयं अपने को कहता है और जिसको शंकर ने भी अपने

भाष्य में स्वीकार किया है। परन्तु इसे स्वतन्त्र रूप में कभी भी उपनिषद् नहीं माना गया हालांकि यह स्वयं स्वयं को उपनिषद् की संज्ञा देता है, और न ही इसको उपनिषद् ग्रन्थों में विशेष महत्ता कभी दी गई। यही बात कुछ-कुछ महा ऐतरेय उपनिषद् के बारे में भी सही बैठती है। अधिकतर महा ऐतरेय उपनिषद् में ऐतरेय आरण्यक के खण्ड दो व तीन को सम्मिलित माना जाता है किन्तु कीथ के अनुसार कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि वह केवल खण्ड दो तक ही सीमित है। परन्तु बात नाम की नहीं है, समस्या तो यह है कि केवल खण्ड दो को ही महा ऐतरेय माना जाए या खण्ड दो और तीन को मिलाकर उनके समन्वित रूप को ही वह नाम दिया जाए ? खण्ड दो पर न तो किसी ने भाष्य लिखा है न उसकी कोई स्वतन्त्र चर्चा की है।

ऐतरेय उपनिषद् की चर्चा तो यहां केवल उदाहरण मात्र है। वास्तव में काफी हद तक तो यह अनेक उपनिषदों पर लागू होता है जिसकी चर्चा मैंने अपने लेख "दि उपनिषद्सः हवाट आर दे ?"[2] में विस्तार से की है।

केवल उपनिषद् को ही श्रुति मानने वाले या प्रधान रूप से ही उन्हें श्रुति स्वीकार करने वाले परंपरागत विद्वानों के लिये यह मूलभूत समस्या उठनी चाहिए कि यदि उपनिषद् स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं तो वे श्रुति के रूप में कैसे स्वीकार किए जा सकते हैं और किस आधार पर किसी को भी यह कहने का अधिकार हो सकता है कि उन ग्रन्थों का केवल वही भाग, जो उपनिषद् के रूप में संकलित है, श्रुति है और बाकी नहीं। ग्रंथों की एक-वाक्यता पर इससे गहरा आघात होता है। यदि श्रुति के अंगों में भी भेद किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रधान हैं और कुछ गौण, तो उनको श्रुति-रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? यह ठीक है कि (प्राचीनतम) प्रमाण रूप में माने जाने वाले उपनिषदों में भी कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जो किसी अन्य ग्रन्थ के अंश नहीं हैं। मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्नोपनिषद् इस प्रकार के स्वतन्त्र ग्रन्थ कहे जा सकते हैं, क्योंकि ये अन्य उपनिषदों की तरह किसी संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के अंग नहीं हैं। बाद में लिखे जाने वाले करीब-करीब सब उपनिषद् इसी प्रकार के हैं। उपनिषदों को अथर्ववेद से सम्बन्धित मानने की परंपरा केवल इसी पूर्वाग्रह को लक्षित करती है कि उपनिषदों को किसी न किसी वेद के साथ जोड़कर वैदिक परंपरा में ही रखा जाए। परन्तु स्पष्टतः शैव, शाक्त और वैष्णव माने जाने वाले उपनिषदों के बारे में तो यह सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये सब साधारणतः आगम-परंपरा में ही सम्मिलित किये जाते हैं और आगम-परंपरा को आमतौर पर वैदिक परंपरा से भिन्न माना जाता है। मिसाल के तौर पर पांचरात्र को कोई भी वैदिक परम्परा का अंग नहीं मानता और यदि कोई माने तो भी उसको इस सवाल का जवाब देना होगा कि अगर यह सच है तो यामुनाचार्य को फिर आगम प्रामाण्य लिखने की क्या ज़रूरत पड़ती ? आगमों के प्रामाण्य को लेकर परम्परा में बहुत चर्चा है और यह बात केवल जैन आगमों तक ही सीमित

2. जे. आई. सी. पी आर., वर्ष 1. अंक 1.

नहीं है बल्कि शैव, शाक्त व वैष्णव आगमों के लिए भी जैन आगमों जितनी ही सत्य है। बौद्ध परम्परा के मूल ग्रन्थों को साधारण तौर पर आगम की संज्ञा नहीं दी जा सकती परन्तु त्रिपिटक का स्थान उस परंपरा में वही है जो जैन आगम के आदि ग्रन्थों का। इस सब का अर्थ केवल इतना ही इंगित करना है कि ऐसे सब ग्रन्थ, जो उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं, उनको अथर्ववेद से जोड़कर वैदिक परंपरा में नहीं माना जा सकता।

यह सब सच होते हुए भी दो बातें तो स्पष्ट हैं कि जैमिनि ने जिन ग्रन्थों को प्रधान रूप से श्रुति के रूप में स्वीकार किया था बादरायण के लिए वे प्रधानतः श्रुति नहीं थे। दूसरे यह कि जैमिनि ने श्रुति के वाक्यों के अर्थ-निर्धारण की जो विधि अपनायी वह उस विधि के बिल्कुल विपरीत थी जो बाद में ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने अपनायी। केवल मंत्र और ब्राह्मण को ही श्रुति मानने वाले जैमिनि के लिए यह समस्या उठनी चाहिए थी कि ईश उपनिषद् जो शुक्ल यजुर्वेद का 40 वां अध्याय है और बृहदारण्यक उपनिषद्, जो शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का अंतिम भाग समझा जाता है, श्रुति क्यों नहीं स्वीकार किये जाएं। आचार्य शंकर ने तो ईशोपनिषद् पर अपना भाष्य यही कहकर शुरू किया है कि इसका कर्म या यज्ञ से कोई सीधा या टेढ़ा सम्बन्ध नहीं है और इसलिए जैमिनि आदि मीमांसकों का यह कथन कि वेद केवल यज्ञपरक ही हैं, ग़लत सिद्ध होता है। यही बात काफी हद तक बृहदारण्यक के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है, हालांकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके बहुत से अंश, विशेषकर प्रारम्भिक अंश, उनका आत्मा या ब्रह्म की चर्चा से बहुत कम संबंध है। इसी प्रकार जैमिनि व उनकी परम्परा के आचार्यों के लिए यह समस्या उठनी चाहिए थी कि ऐसे ग्रन्थ जो ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों नामों से जाने जाते हैं उन्हें किस प्रकार समझा जाए! इसका एक उदाहरण जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण है जिसके नाम में ही उपनिषद् और ब्राह्मण दोनों स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यदि यह ब्राह्मण है तो यह जैमिनि और उसके परवर्ती मीमांसकों के लिए श्रुति रूप में मान्य होना चाहिए, परन्तु यदि उसे उपनिषद् रूप में स्वीकार किया जाए तो यह उनके लिए मान्य न होकर केवल बादरायण के लिए ही मान्य रहेगा। बादरायण के लिए भी कुछ-कुछ ऐसी ही समस्याएं उठनी चाहिएं, क्योंकि जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, अनेकानेक उपनिषद् स्वयं किसी संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थ के भाग हैं। दूसरा विकल्प जो उनके लिए बचा रहता है वह केवल यही है कि वे सिर्फ मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्न को ही उपनिषद् के रूप में स्वीकार करें। परंतु न तो बादरायण ने, न ही वेदांत के परम्परागत विद्वानों ने इस समस्या की ओर कोई ध्यान दिया है।

इससे भी गहरी समस्या तो यह है कि जैमिनि के अनुसार श्रुति-वाक्य केवल क्रिया-प्रधान होते हैं और उनकी व्याख्या केवल यज्ञ के संदर्भ में ही की जा सकती है, बाकी सब वाक्य केवल आनुषंगिक हैं और उनको केवल अर्थवाद के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। यदि यह मान लिया जाए तो ब्रह्म संबंधी सब वाक्य, जो बादरायण के लिए श्रुति का केन्द्र हैं, केवल अर्थवाद हो जाते हैं और इस प्रकार सारा वेदांत का वाङ्मय एक भयंकर भूल पर आश्रित दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत यदि बादरायण की श्रुति-संबंधी व्याख्या करने

की विधि को प्रधानता दी जाए तो वेदों में आने वाले सब क्रियापरक वाक्य, जो प्रधानतः यज्ञ से संबंध रखते हैं, निरर्थक लगेंगे, या कम से कम वे श्रुति के प्रधान विषय के रूप में उपस्थित नहीं होंगे। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जबकि जैमिनि की परंपरा में स्पष्टतः ही अर्थवाद का सिद्धांत मिलता है और इस बात की भी चर्चा है कि श्रुति के यज्ञपरक अर्थों को छोडकर बाकी अर्थों को किस प्रकार समझा जाए, बादरायण में ऐसा कोई विशेष प्रयत्न नहीं दिखता। कहने का आशय यह है कि बादरायण से निःसृत होने वाली वेदांत-चिंतन की परम्परा में, जहां तक मुझे ज्ञात है, अर्थवांद जैसा कोई सिद्धान्त नहीं है, परन्तु बिना किसी अर्थवाद के सिद्धान्त के किसी भी श्रुति माने जाने वाले ग्रन्थ की व्याख्या हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें कुछ ऐसे अंश तो होंगे ही जो व्याख्याकार के मत में श्रुति का केन्द्र-बिन्दु न होकर आनुषंगिक या गौण हैं और जिन्हें केवल लक्षण या व्यंजना के रूप में ही समझा जाना चाहिए। यह बात और है कि व्यवहार किन अंशों को इस रूप में समझने का आग्रह करे पर किसी न किसी अंश को तो उसे इस रूप में लेना ही पड़ेगा, क्योंकि साधारणतया यह असम्भव सा ही है कि श्रुति माने जाने वाले ग्रन्थ के सभी वाक्य एक स्वर से और एक ही तरह से उसकी व्याख्या को अनुमोदित करें। इस तरह से देखने पर अर्थवाद का सिद्धात किसी भी ग्रन्थ की व्याख्या का एक अनिवार्य अंश हो जाता है। परन्तु अर्थवाद का तो अर्थ ही यह है कि जो अर्थ प्रतीत होता है वैसा वह वास्तव में नहीं है और इसको उसी प्रकार समझना एक भयंकर भूल है। अर्थ के सम्बन्ध में प्रतीति और सत् का यह भेद, जहां तक मुझे मालूम है, दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं रहा है। पर इस ओर ध्यान दिया जाये तो अर्थ की अनैकांतिकता शब्दों में स्वयं ही निहित प्रतीत होगी। यही नहीं बल्कि वास्तव अर्थ क्या है इसके बारे में मतभेद न केवल अनिवार्य ही होंगे बल्कि उनमें सदैव एक ऐसी अनिश्चितता रहेगी जिसका निराकरण सिद्धान्ततः असम्भव है।

अभी कुछ दिन पहले प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी ने अपने एक भाषण में इस ओर इशारा किया था कि भर्तृहरि के अनुसार अर्थ एक प्रकार का विवर्त है जो शब्द में प्रतीत होता है। परन्तु उनके ही अनुसार भर्तृहरि में यह स्पष्ट नहीं है कि विवर्त से उनका अर्थ, साधारणतः उसका जो अर्थ अद्वैत वेदांत की परम्परा में लिया जाता है, वही है या उससे भिन्न। परंतु भर्तृहरि का स्वयं अपना मत कोई भी हो अर्थवाद को, या कहें अर्थाभास को, अर्थ का अनिवार्य अंग मानने पर अर्थ एक प्रकार का अद्वैतिक विवर्त ही होगा। इस संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा था कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में शब्द के नित्यत्व की ही बात की गई है, अर्थ के नित्यत्व की नहीं। चाहे जो भी हो, इतना तो साफ ही है कि जैमिनि हों या बादरायण दोनों अपने मत को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए इस सबको अर्थवाद या अर्थाभास मानते हैं जो दूसरे के लिए उसका सही अर्थ है।

परन्तु केवल इतना ही नहीं है, इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जैमिनि और बादरायण दोनों एक प्रकार से इस बात को पूरी तरह नजरदाज़ करते हैं कि जिनको वे प्रधानतः श्रुति के रूप में स्वीकार करते हैं वे स्वयं उनके ग्रन्थों के अभिन्न अंग हैं

जिन्हें वे श्रुति के रूप में अस्वीकार करते हैं। जैमिनि इस बात की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते कि बहुत सारे उपनिषद् या आरण्यक संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थों के अभिन्न अंग हैं। ईशोपनिषद् तो शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय सर्वसम्मति से माना जाता है। इसी प्रकार करीब-करीब सब प्रधान उपनिषद् ब्राह्मण या आरण्यक के भाग हैं, मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न ही इसके अपवाद हैं। यदि हम उन्हें ही प्रधान उपनिषद् के रूप में स्वीकार करें जिन पर आचार्य शंकर ने अपना भाष्य लिखा है, तो भी केवल इन तीन को छोड़कर बाकी सब स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक का भाग ही हैं जिन्हें किसी ने पृथक् रूप से उनमें से निकालकर अलग उपनिषद् की संज्ञा दे दी थी। परन्तु अलग संकलन करने से और उस संकलन को नया नाम दे देने से ही वे कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हो जाते। परन्तु ऐसा लगता है कि जैमिनि और बादरायण दोनों ही इस भ्रान्ति के शिकार हुए कि वे स्वतंत्र ग्रन्थ थे और इसलिए उनको श्रुति का अंग स्वीकार करने या न करने के लिए वे स्वयं भी स्वतंत्र थे। जैमिनि और बादरायण ही नहीं उनके परवर्ती आचार्य भी इस भ्रान्ति से ग्रसित प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि शंकर से मध्य युग तक सब आचार्य उपनिषदों को स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में देखते हैं और यही बात राधाकृष्णन् प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वानों के बारे में भी सही प्रतीत होती है, जिन्होंने उपनिषदों को स्वतंत्र ग्रन्थ मानकर उन पर नयी टीकाएं लिखी हैं। इस भ्रांति के फैलने का शायद एक यह भी कारण था कि करीब-करीब सब लोग ऐसा मान बैठे कि वे ग्रन्थ, जो उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं, श्रुति, यानि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के अन्तिम भाग हैं। ऐसा मानने के कारण ही उनको वेदांत की संज्ञा भी दी गई है और उनमें जो मत प्रतिपादित किया गया है उसको भी वेदांत कहकर पुकारा गया है। परन्तु इन मान्यताओं का कोई सुदृढ़ आधार नहीं है। अनेक उपनिषद् कहे जाने वाले संकलन कई बार बीच में से ही संकलित किये गए हैं, जैसाकि ऐतरेय उपनिषद् के बारे में सर्वविदित है। ईशोपनिषद् तो किसी ब्राह्मण या आरण्यक का भाग है ही नहीं और जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् जैसे अनेक ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो ब्राह्मण और उपनिषद् का संकलित रूप हैं। प्राचीन काल से प्रचलित इन भ्रांतियों को जब तक हटाया नहीं जाएगा तब तक श्रुति रूप में माने जाने वाले ग्रन्थों के बारे में कोई स्पष्ट धारणा बनानी मुश्किल ही होगी। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैमिनि और बादरायण ने श्रुति को मूलतः विभाजित और खण्डित दृष्टि से देखा। यह एक प्रकार से श्रुति की एकवाक्यता पर कुठाराघात था जिसको परवर्ती चिन्तकों ने यह कहकर झुठलाने की कोशिश की कि एक पूर्वमीमांसा है और दूसरी उत्तरमीमांसा। वास्तव में इन शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं है, क्योंकि अर्थ तो तब होता जब जैमिनि आरण्यकों व उपनिषदों को श्रुति रूप में स्वीकार करते या बादरायण मंत्र और ब्राह्मणों को श्रुति के रूप में मानते। परन्तु यदि ऐसा नहीं है तो फिर 'पूर्व' और 'उत्तर' कहने का क्या आशय है ? जैमिनि के लिए कोई 'उत्तर' नहीं है एवं बादरायण के लिए कोई 'पूर्व' नहीं है। उनके लिए केवल मात्र वही श्रुति है जिसे वे मानते हैं एवं जिसकी वे चर्चा करते है। यही नहीं, उनके श्रुति सम्बन्धी व्याख्यापरक सिद्धान्तों में भी मूल भेद है एवं यह भेद सामान्य नहीं वरन् ज़मीन-आसमान का

भेद है । श्रुति की व्याख्या यज्ञपरक हो या ब्रह्मपरक इन दो दृष्टियों में इतना गहन व मौलिक भेद है कि इन्हें 'पूर्व' व 'उत्तर' के रूप में मानना केवल उनके साथ ही अन्याय करना नहीं है वरन् स्वयं को भी धोखा देना है। आज के संदर्भ में किसी भी निष्पक्ष विचारक के लिए, जिसकी बुद्धि निस्संग है और जिसका स्वयं अपना कोई आग्रह नहीं है, उसको श्रुति-परंपरा के समस्त ग्रन्थों को समग्र रूप में देखने की चेष्टा करनी चाहिए और जो उपनिषद् केवल संकलन मात्र हैं उनको स्वतंत्र ग्रन्थ न मानकर जिन ग्रन्थों के वे अभिन्न अंग हैं उनके संदर्भ में ही देखने की चेष्टा करनी चाहिए । यही नहीं, श्रुति में जो विचार की विभिन्न धाराएं दृष्टिगोचर होती हैं उनको अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए । बादरायण व जैमिनि के एकांगी आग्रहों को अस्वीकार करते हुए भी इस बात को नहीं भुलाना चाहिए कि उन्होंने श्रुति को खण्डित रूप में ही नहीं देखा बल्कि उसके अर्थ में भी गहरा विरोध दर्शाया । इसके साथ ही यह प्रश्न भी अपने सामने स्पष्ट रूप में रखना चाहिए कि उपनिषदों को श्रुति रूप में स्वीकार करते हुए भी परम्परा में उपनिषद् के नाम से लिखे जाने वाले ग्रन्थों की रचना करीब-करीब तेरहवीं शताब्दी तक चलती रही, और यदि ऐसा हुआ तो क्या उनको श्रुति रूप स्वीकार करना उचित है ? जब तक परम्परा को हम एक नयी, खुली व मुक्त दृष्टि से नहीं देखेंगे तब तक हम श्रुति के साथ जो अन्याय जैमिनि और बादरायण ने किया है उसकी ओर से अनभिज्ञ ही रहेंगे, और मंत्र की तरह बार-बार यह रटकर कि एक पूर्व-मीमांसा है एवं दूसरी उत्तर-मीमांसा, स्वयं को सांत्वना देते रहेंगे । पर यह सांत्वना केवल आत्मछलना ही होगी, इससे अधिक कुछ नहीं ।

आर 6, राजस्थान विश्वविद्यालय परिसर,
जयपुर

5

पश्चिम में 'सैक्यूलरिज़्म' की अवधारणा*

सरल झिंगरन

I. अनेक भारतीय विचारक यह तर्क देते हैं कि पश्चिम में सैक्यूलरिज़्म' का एक सुनिश्चित, अंतिम रूप से निर्धारित प्रत्यय (कान्सैप्ट) है और भारतीय 'सैक्यूलरिज़्म' की अवधारणा में उस सुनिश्चित अर्थ का अनर्थ कर दिया जाता है। मेरे विचार से 'सैक्यूलरिज़्म' एक सुनिश्चित प्रत्यय न होकर विचारधारा या वाद है, जो अंतिम रूप से निर्धारित अर्थ या सार्वभौमिकता का कोई दावा नहीं करता। 'सैक्यूलरिज़्म' की विचारधारा में अनेक तत्त्व निहित हैं—कुछ ऐतिहासिक रूप से निर्धारित होने के कारण केवल उन्हीं सीमित परिस्थितियों में संगति रखते हैं, यथा चर्च तथा राज्य के पूर्ण विभाजन का सिद्धान्त, कुछ अन्य अधिक सामान्य या निरपेक्ष होने के कारण सार्वभौमिक अर्थ रखते हैं। भारतीय 'सैक्यूलरिज़्म' को समझते हैं या नहीं, यह जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि पाश्चात्य 'सैक्यूलरिज़्म' है क्या ?

यद्यपि 'सैक्यूलरिज़्म' के सिद्धान्त के कुछ विचार मध्य युग एवम् "रिफोर्मेशन" में भी बीज रूप से पाए जाते हैं परन्तु "सैक्यूलरिज़्म' का वास्तविक प्रारंभ पाश्चात्य 'रेनेसाँ' एवम् रिफोर्मेशन के बाद 'एनलाइटेन्मेन्ट' के नाम से पुकारे जाने वाले युगों में ही हुआ। इन दोनों की भावना या अभिवृत्ति संसार और जीवन के प्रति अत्यन्त सकारात्मक थी। दोनों युगों में नित्य नये ज्ञान की खोज एवम् प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की चाह थी और मनुष्य की क्षमता के प्रति अगाध विश्वास था।

---

* उन्मीलन-गोष्ठी में प्रस्तुत।

'सैक्यूलरिज़्म' की मुख्य प्रेरणा विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति रही है। विज्ञान की अनेक खोजों एवम् व्याख्यात्मक अवधारणाओं ने धीरे-धीरे करके ईसाई धर्म के सब अन्धविश्वासों की जड़ें हिला दीं संसार को एक स्वचालित यंत्र के रूप में देखा-समझा जाने लगा, जिसके कार्य में ईश्वर किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। यहाँ तक कि लाप्लेस ने कह दिया कि उसे ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। 'डीज़्म' नाम के ईश्वर के सिद्धान्त ने ईश्वर को निरर्थक बना दिया।

आश्चर्य की बात तो यह है कि यद्यपि धर्म या ईश्वर में आस्था पश्चिम में सत्रहवीं शताब्दी के बाद से अधिक आधारभूत या केन्द्रीय नहीं थी तब भी धार्मिक सहिष्णुता का वहाँ पूर्ण अभाव था। जॉन लॉक तथा थॉमस पेन नामक विचारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता को कुछ-कुछ स्वीकृति मिली तो, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका स्वरूप बहुत कुछ सीमित था।

पाश्चात्य 'सैक्यूलरिज़्म' पर कई विचारकों और विचारधाराओं का प्रभाव है—यथा जॉन लॉक का अनुभववाद, हॉब्स का भौतिकवाद, बैंथम और मिल का उपयोगितावाद तथा कौंत का प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़्म)।

II—उपर्युक्त दर्शनों ने 'सैक्यूलरिज़्म' के जन्म की भूमि तैयार कर दी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में होलिओके नामक विचारक और समाज सुधारक ने 'सैक्यूलरिज़्म' को एक आंदोलन का रूप दे दिया। उनका उद्देश्य इस संसार की समस्याओं का उसी में अंतर्निहित नियमों या सिद्धान्तों के अनुरूप निराकरण करना था। इसी कारण उन्होंने 'सैक्यूलरिज़्म' को 'लिमिटेशनिज़्म' का नाम भी दिया, जिसके अनुसार धर्म को केवल मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण तक ही सीमित रहना चाहिए, जिससे मनुष्य के सांसारिक जीवन का निर्विघ्न विकास हो सके। होलिओके आस्थावान् न होते हुए भी नास्तिक नहीं थे। उसी प्रकार थॉमस पेन तथा जैफ़र्सन, जो 'सैक्यूलरिज़्म' के आधारस्तम्भ गिने जाते हैं, भी आस्तिक थे।

'सैक्यूलरिज़्म' उन्नीसवीं शताब्दी की प्रतिनिधि उपज है। तत्कालीन उदारतावाद और 'सैक्यूलरिज़्म' की विचारधाराओं में बहुत से सामान्य तत्त्व हैं। यथा विज्ञान की प्रगति एवम् क्षमता में आस्था, मनुष्य की अच्छाई एवम् उसकी व्यक्ति एवम् समाज के पूर्ण विकास को प्राप्त करने की स्वायत्त क्षमता में विश्वास, व्यक्तिपरतावाद तथा भौतिक जीवन एवम् शिक्षा की स्वायत्तता, और उन सबका स्वाभाविक परिणाम—धर्म की अवहेलना।

III—'सैक्यूलर' शब्द का मूल लैटिन का 'सैक्यूलम' शब्द है, जिसका अर्थ है सामयिक, यह युग, अथवा यह लोक। उसका विलोम (ईसाई धर्म के अर्थ में) होगा—आने वाला युग या दूसरा लोक। 'सैक्यूलरिज़्म' शब्द की धर्म के विरोधी के रूप में प्रचलित अवधारणा भ्रामक है, क्योंकि 'सैक्यूलरिज़्म' का विरोधी परलोकवाद है, न कि धर्म।

इस संदर्भ में दूसरा अत्यधिक प्रचलित शब्द है 'सैक्यूलराज़ेइशन' अथवा व्यक्ति एवम् समाज की मनोवृत्ति का संसारी भाव। ब्रायन विल्सन, हार्वे कॉक्स तथा वरनॉन प्रैट इत्यादि विद्वानों ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। ब्रायन विल्सन के अनुसार 'सैक्यूलराइज़ेशन' का अर्थ है "धार्मिक क्रियाकलापों, रीति रिवाजों, विश्वासों एवम् संस्थाओं का ह्रास" अथवा "अलौकिक या लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास का ह्रास।"

उपर्युक्त सभी विचारक एक मत से धर्म (रिलीजन) को अलौकिक अथवा लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास का समानार्थक मानते हैं और तर्क करते हैं कि क्योंकि विज्ञान से प्रभावित आधुनिक मनुष्य के लिए ऐसी शक्तियों में विश्वास सम्भव नहीं है इस कारण 'सैक्यूलरिज़्म' का अर्थ धर्म अथवा अलौकिकतावाद (सुपरनैचुरलिज़्म) का निराकरण है।

हार्वे कॉक्स के अनुसार, 'सैक्यूलराइज़ेशन' का प्रमुख तत्त्व सांसारिकता अथवा लौकिकता है, एवम् सांसारिकता का लक्षण सांसारिक (सैक्यूलर) मनुष्य के विचार एवम् भावनाओं का इस सँसार या लोक तक ही सीमित होना है। इसके अतिरिक्त हार्वे कॉक्स नागरिक जीवन, व्यावहारिकता, अनेकतावाद और सहनशीलता को भी 'सैक्यूलराइज़ेशन' के लक्षण मानते हैं।

ब्रायन विल्सन के अनुसार सांसारिक जीवन की स्वायत्तता एवम् धर्म अथवा चर्च के अधिकारों का सीमित होना ही 'सैक्यूलराइज़ेशन' है।

IV—उपर्युक्त व्याख्या के अनुरूप ही ब्रायन विल्सन 'सैक्यूलरिज़्म' को निम्न रूप से परिभाषित करते हैं—"सैक्यूलरिज़्म वह विचारधारा या सिद्धान्त है जिसके समर्थक सब प्रकार के अलौकिकतावाद का निराकरण करते हैं और समाज एवम् नैतिकता के लिए धर्म से स्वतन्त्र अथवा धर्म-विरुद्ध नियमों का समर्थन करते हैं।"

उपर्युक्त तीनों विचारक धर्म (रिलीजन) को अलौकिकतावाद अथवा लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास का समानार्थक देखते हैं। यह समीकरण तथ्यों के विपरीत एवम् अतिशयोक्ति मात्र है। वस्तुतः ईश्वर की लोकोत्तर एवम् जगत् और प्राणी से पूर्णतः भिन्न सत्ता के रूप में परिकल्पना कुछ प्रोटेस्टेण्ट विचारकों, यथा कार्ल बार्थ एवम् रूडॉल्फ ऑटो की देन है; परन्तु सभी धर्मों में ईश्वर की यह अवधारणा नहीं है। एक बार ईश्वर और धर्म की यह सीमित अवधारणा छोड़ दी जाए तो 'सैक्यूलरिज़्म' की धर्म-विरुद्ध विचारधारा के रूप में परिकल्पना की भी आवश्यकता नहीं रहती।

दूसरे, मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह सत्य है कि संसारी मनुष्य की धर्म में उतनी अभिरुचि नहीं रहती। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि सांसारिकता एवम् धर्म-विरुद्धता में कोई तार्किक संबंध है।

V—पाचात्य 'सैक्यूलरिज़्म' एक ऐसी विचारधारा है जिसमें कई परस्पर संबंधित प्रत्यय निहित हैं : 1. बुद्धि या विवेक की स्वायत्तता 2. विज्ञान का महत्त्व 3. श्रुति (रिवीलेशन) के परम सत्यता के दावे से इन्कार 4. सापेक्षतावाद एवम् अनेकतावाद

5. सहनशीलता अथवा सहिष्णुता 6. मनुष्य का गौरव एवम् स्वायत्तता 7. सांसारिक जीवन तथा संस्थाओं की स्वायत्तता 8. लौकिक शिक्षा की स्वायत्तता 9. नैतिकता की स्वायत्तता अथवा धर्म-निरपेक्षता 10. धर्म की उपेक्षा।

उपर्युक्त सब लक्षणों का सार है--मनुष्य एवम् सांसारिक जीवन का महत्त्व तथा उनकी स्वायत्तता अथवा धर्म से उनकी स्वतन्त्रता और बुद्धि (रीज़न) एवम् विज्ञान की ज्ञान के सर्वोपरि साधन के रूप में स्वीकृति। धर्म की उपेक्षा 'सैक्यूलरिज़्म' का आवश्यक अंग नहीं है, किन्तु बहुधा उसका फल होता है।

VI—'सैक्यूलरिज़्म' उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा थी। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अधिकतर वैज्ञानिकों एवम् विचारकों ने 'सैक्यूलरिज़्म' का न केवल अनुमोदन किया अपितु उसके सिद्धान्तों को नये-नये क्षेत्रों यथा मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा धर्म में विनियोजित भी किया। दूसरी ओर कुछ प्रमुख वैज्ञानिक, यथा एडिंग्टन, जेम्स जीन्स और आइन्स्टाईन ने संसार की आदर्शवादी व्याख्या प्रस्तुत की।

VII—बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में—पश्चिम के अनेक विचारक अब उपर्युक्त धर्म-विरोधी विचारधारा और अभिवृत्ति का निराकरण कर रहे हैं। ये विचारक ईसाई धर्म की सांसारिकता (सैक्यूलेरिटी) के समर्थक हैं, और उसके समर्थन में अनेक तर्क देते हैं। इनके अनुसार बाइबिल का धर्म जीवन और जगत् को सत्य और मूल्यवान् मानता है। इस परम्परा में इतिहास का बहुत महत्त्व है और यह विश्वास है कि ईश्वर इतिहास की विभिन्न घटनाओं में अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। बाइबिल पर आधारित दोनों धर्म ईश्वर को अन्तर्यामी न मानकर विश्वोत्तीर्ण मानते हैं। इन विचारकों के अनुसार, इस विश्वास से प्रकृति और मनुष्य की स्वायत्तता की रक्षा होती है। ईश्वर ने संसार की रचना अवश्य की, किन्तु उसने मनुष्य को इच्छा-स्वातंत्र्य भी दिया है, इत्यादि। इस प्रकार के तर्कों के द्वारा ये विद्वान ईसाई धर्म को आधुनिक युग की सांसारिक मनोवृत्ति के अनुकूल सिद्ध करना चाहते हैं।

इसी से संबंधित एक अन्य बहुत प्रभावशाली विचारधारा है जो धर्म अथवा चर्च को समाज की समस्याओं एवम् क्रियाकलापों में सक्रिय योगदान देने के लिए प्रोत्साहित करती है।

अमेरिका में इस विचारधारा को पूर्ण स्वीकृति मिली है। वहाँ धर्म व्यक्ति द्वारा मोक्ष की साधना नहीं अपितु समाज के कार्यों में व्यक्ति के सक्रिय सहयोग का नाम है। इस प्रकार एक ओर तो ईसाई धर्म के पंडित अपने धर्म को सांसारिक सिद्ध करते हैं; दूसरी ओर वहाँ के धार्मिक लोग धर्म और जीवन का पारस्परिक संबन्ध और घनिष्ठ बना रहे हैं। वहाँ लोकमत भी धर्म और सांसारिक जीवन में विरोध नहीं देखता। उपर्युक्त अभिवृत्तियों का एक ही परिणाम है कि 'सैक्यूलरिज़्म' और 'रिलीजन' (धर्म) में जो विरोध कुछ दशाब्दियों पूर्व देखा जाता था उसका लगभग पूर्ण निराकरण हो गया है।

दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

6

पाश्चात्य दर्शन का अध्यापन-औचित्य-विचार

बी. कामेश्वर राव

(I)

मानवी बुद्धि जिज्ञासु होती है और जिज्ञासा का क्षेत्र असीम होता है। इसलिये "ज्ञान" को देश-काल की सीमा में बांधना अनुचित प्रतीत होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बुद्धि शरीर में रहकर ही कार्य करती है। ज्ञानेन्द्रियां और उनके विषय अन्तहीन जिज्ञासाओं की प्राकृत सीमा हैं। शरीर देश-काल में सीमित है। देशकाल की सीमाएं स्वतः कितनी भी विस्तृत क्यों न हों, रहेंगी तो सीमित ही। इसलिए अन्तहीन जिज्ञासाओं की सीमा भी स्वयं बुद्धि द्वारा ही निर्धारित की जाती है। सीमांकन का यह कार्य क्षमता, आवश्यकता और उपलब्धता पर निर्भर करता है। शरीर नाशवान् है। उसके क्रियाशील रहने की अवधि 'ज्ञेय विषयों" के ज्ञान के लिए वांछित अवधि की तुलना में बहुत कम होती है। इसलिए यह स्वीकार करने में संभवतः किसी को संकोच न होगा कि हर क्षेत्र का पूरा ज्ञान प्राप्त करना न संभव है, न वांछित और न उचित ही। अनावश्यक और अवांछित विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में लगाया गया समय और श्रम छोटे से अमूल्य जीवन के समय को वृथा करना ही होगा। भारतीय महाविद्यालयों–विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शन के "दर्शन शास्त्र" विषय के अन्तर्गत अध्यापन को हम शिक्षकों, विद्यार्थियों और समग्र रूप से भारतीय समाज के समय को वृथा करने का ही प्रयास समझते हैं।

भारतीय शिक्षण-संस्थाओं में (अपवादों को छोड़कर) दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों का वर्ग-रूप कुछ इस प्रकार का होता है–

(1) जिन्हें अन्य किसी रोज़गारोपयोगी विषय में प्रवेश नहीं मिलता वे इस विषय को स्वीकार करते हैं।

(2) जिन्हें नौकरी न करना हो या इस विषय के आधार पर नौकरी न करना हो–वे दर्शनशास्त्र पढ़ते हैं।

(3) डिग्री हासिल करने का शौक हो, जो किसी भी विषय को पढ़ सकते हों, ऐसे तटस्थ भाव से दर्शन शास्त्र पढ़ते हैं।

इसीलिए अन्य विषयों की तुलना में दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत कम विद्यार्थी आगे आते हैं। ज्ञान–प्राप्ति के संतोष के कारण रुचि-सम्पन्न विद्यार्थियों को हम अपवाद वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं।

दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत पढ़ाए जाने वाले विषयों के प्रति विद्यार्थी की अभिरुचि का प्रश्न प्रायः गौण पाया जाता है। स्नातक स्तर पर इस विषय को चुनने वाले विद्यार्थी का इस शास्त्र से जो थोड़ा-बहुत परिचय होता है वह ऐसे शास्त्र के रूप में होता है जिसमें वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि का प्राधान्य हो। भारतीय विद्यार्थी दर्शन के स्वरूप में "जीवन" को सीधे जुड़ा हुआ समझता है। भारतीय समाज का इस विषय के प्रति जो थोड़ा-बहुत आकर्षण है वह भी शंकर, अरविंद, विवेकानन्द, रामायण, गीता आदि के प्रचार के चलते ही है। साथ ही धर्म-सम्बन्धी मसलों के प्रति रुझान भी दर्शन के प्रति आकर्षण का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। यदि हम वर्तमान प्रचलित पाठ्यक्रम पर नज़र डालें तो पायेंगे कि पचास प्रतिशत से अधिक अंश दर्शन के उपर्युक्त रुझान के प्रतिकूल है। अतः यह स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम-निर्माण में सामाजिक अभिरुचि या विद्यार्थियों की अभिरुचि विद्वानों के लिए बहुत महत्त्व नहीं रखती। ऐसी स्थिति में इस विषय के प्रति समाज को रुचि न होना, या दर्शन के प्रति उदासीनता सहज है। एक बात यहां ध्यान में रखनी होगी कि समाज की यह उदासीनता केवल प्राध्यापकीय दर्शनशास्त्र के प्रति ही है।

(2)

रोज़गार के लिए बहुत उपयोगी न होने पर भी यदि इसकी सामाजिक उपयोगिता सिद्ध की जा सके तो भी शिक्षण-संस्थाओं में दर्शन के अध्ययन-अध्यापन को उपयोगी माना जा सकता है। कम से कम दर्शन के अध्यापक तो मानते ही हैं कि यह शास्त्र समाज के लिए उपयोगी है, भले ही वे समाज को यह समझा पाने में सफल न हो पाते हों। समाज को समझाने के लिए विषय को सीधे समाज से जोड़ना होगा। भारतीय समाज में दर्शनशास्त्र की शैक्षणिक महत्त्वहीनता विद्यार्थियों के रुझान के अभाव से ही प्रमाणित हो जाती है। दर्शनशास्त्र से समाज को जो अपेक्षाएं होती हैं, या हो सकती हैं, उसके अनुरूप पाठ्यक्रम ही जब न हो तो क्यों लोग उसकी ओर आकर्षित होंगे ? न तो राष्ट्र के योजना-निर्माता और न ही शिक्षाविद् "राज्य" को यह समझा सके हैं कि इस विषय का व्यापक प्रसार होना आवश्यक है। ऐसे में इस विषय के अध्यापकों को आत्मविश्लेषण की आवश्यकता है। मुझे जो कारण

इस दुर्गति का प्रतीत हुआ वह दर्शन की पाश्चात्य अवधारणा का आयात और प्राध्यापकीय चिन्तकों का भारतीय दर्शन को आयातित दृष्टिकोण से समझने-समझाने का प्रयास है। इस प्रयास का परिणाम है कि हमारे विश्वविद्यालयों में कम से कम आधा पाठ्य-विषय पाश्चात्य दर्शन है, परिणामस्वरूप भारतीय समाज में दार्शनिक चिन्तनापेक्षी समस्याओं से दर्शन का विद्यार्थी अछूता ही रह जाता है। तब भला वह दर्शन को समाज से कैसे जोड़ पायेगा ?

वर्तमान भारतीय समाज की अवस्था (दुरवस्था) में लोग बहुत सन्तुष्ट होंगे, ऐसा प्रतीत नहीं होता। हमारे देश में विचित्र समस्याएं हैं। गरीबी समस्या है तो गरीबी दूर करने वाले भी एक समस्या ही हैं। साम्प्रदायिकता एक समस्या है तो कथित धर्मनिरपेक्षता भी एक समस्या से कम नहीं है। आतंकवाद, अलगाववाद, राजनैतिक अवसरवाद-जन्य समाज-व्यवस्था, मानव-मूल्यों की मान्यताओं में परिवर्तन (ह्रास), परिवार का विघटन-संकुचन, राष्ट्र,-राज्य की अवधारणाओं का परस्पराध्यास फलतः नागरिक के राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया में भटकाव, अस्पष्टता और अनिश्चितता, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में लक्ष्य की अस्पष्टता, भविष्य की आशंका, अतीत का मोह लेकिन अतीत से सतर्क सम्बन्ध का अभाव—ये सभी समस्याएं हैं।

इन सभी समस्याओं के मूल में, जहाँ तक परिस्थितियाँ मानव-क्षमता के अधीन हैं, विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व की कुशिक्षा को ही इसका मुख्य कारण समझा जा सकता है। अभी कुछ समय पूर्व भारतीय समाज में मन्दिर–मस्जिद–विवाद को लेकर आन्दोलन था। राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिकता आदि शब्दों पर व्यापक बहस छिड़ी हुई थी। प्रचार-माध्यमों ने ऐसे लोगों को जनता के सामने विचार रखने के लिए प्रस्तुत किया जो राजनैतिक रूप से प्रतिबद्ध विदेशी वाद के चंगुल में फंसे हुए और दार्शनिक चिन्तन से बहुत दूर थे। प्राध्यापकीय दर्शन-शास्त्रियों ने न तो इस समस्या पर सेमिनार आयोजित किये, न ही लेखों के माध्यम से मार्ग-दर्शन किया, न ही प्रचार-माध्यम ने इन्हें इस योग्य समझा। आखिर ये दार्शनिक प्रतिभाएं किस दिन के लिए सुरक्षित रखी जा रही हैं ?

संक्षेप में भारतीय समाज त्रिविध दुःखों से ग्रस्त है और इसका समाधान "विवेक" द्वारा ही संभव है। यदि दार्शनिक चिन्तन इस अवस्था में समाज का मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता तो इस शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन बन्द कर दिया जाना चाहिए।

लेकिन हम मानते हैं कि दर्शनशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन भारतीय समाज के लिए आवश्यक है (बल्कि हम इसे अनिवार्य भी कहना चाहते हैं)। हाँ, यह बात अवश्य कहना चाहेंगे कि वर्तमान प्रचलित पाठ्यक्रम में, जिसमें प्रायः मान्यताएं, अवधारणाएं आयातित हैं—अवश्य ऐसा कुछ नहीं है जो उसके न होने पर कोई क्षति होगी। आखिर क्या कमी है प्रचलित पाठ्यक्रम में ? आइए इस पर ध्यान दें।

(3)

भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में पाश्चात्य दर्शन अनिवार्य है। इसमें ग्रीक दर्शन से लेकर फिनामिनॉलॉजी तक सब कुछ पढ़ाया जाता है। मुझे इसमें अनिवार्य के

जैसा कोई भी गुण दिखाई नहीं देता, हां, शौकिया कोई पढ़ना चाहे तो उसके लिए रोचक हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन का रूप तो प्रायः अस्पष्ट दिशा-युक्त या फिर ईसाई पंथ को दार्शनिक रूप देने के प्रयासों की प्रक्रिया ही प्रतीत होता है। दर्शन को साधना और जीवन-दृष्टि से अलग कर "भाषा" में ही उलझा कर रखना, या भौतिक विज्ञानों की दासी बना कर रखना, परमात्मा, मनुष्य और संसार पर चिन्तन को "ज्ञान" से निकाल कर व्यक्तिगत "आस्था" के क्षेत्र में रख देना "ईसाई" पंथ को तर्क-युक्ति के आक्रमणों से बचाने का प्रयास ही है। न तो अस्तित्ववादी कुंठा भारतीय समाज के लिए उपयोगी है और न ही जीवंत लक्ष्य से रहित शुष्क तर्क का ही कोई महत्त्व है। अतः पाश्चात्य तथाकथित दर्शन के अध्यापन की भारतीय संस्थाओं में "अनिवार्यता" का कोई औचित्य नहीं है। दर्शन की पाश्चात्य अवधारणाओं का परिणाम भारतीय अवधारणाओं और परम्पराओं के प्रति हीन दृष्टि को जन्म देता है। फिर, पाश्चात्य देशों के विश्वविद्यालयों में कितने स्थानों में भारतीय दर्शन अनिवार्य है? वहां तो भारतीय दर्शन को "दर्शन" ही नहीं समझा जाता। फिर क्यों भारतीय विद्यार्थी का मूल्यवान् समय व्यर्थ के कथित दर्शन के पीछे गँवाया जाये?[1]

वास्तव में पाश्चात्य दर्शन का अधिकांश "दर्शन" है ही नहीं। इसीलिए हमने उसे "तथाकथित दर्शन" कहा है। दर्शन में अन्तर्दृष्टि, आध्यात्मिकता और साधना अनिवार्य तत्त्व हैं। शेष सब कुछ दर्शन के साधन मात्र हैं। स्वयं पाश्चात्य चिन्तक एक लम्बे समय तक दर्शन की परिभाषा और विषय-वस्तु के बारे में अनिश्चित रहे हैं। फिर समकालीन पाश्चात्य दृष्टि तो बहुत सी बातों में शैशवावस्था में ही है। "दर्शन क्या है"—इस पर अभी एक आम सहमति बनती दिखाई दे रही है। वह भी अभी प्रक्रिया और उद्देश्य की दृष्टि से स्पष्ट किया जाना है।[2] अधिकांशतः उसका सम्बन्ध भाषायी अभिव्यक्ति से है न कि जीवन की मूल समस्याओं से।[3] जब स्वयं पाश्चात्य चिन्तक अस्पष्टता, भटकाव और अनिश्चय की स्थिति में

---

1. यहां श्री एन. एस. एस रमन का एक संस्मरण विचारणीय है—
'An eminent philosopher of the west once remarked to me that Indian philosophers today .. ..showed a secret admiration for English philosophy, social and political theory. It is a great pity that British thinkers did not evince an equally keen interest in Indian thought and institutions. (*Iudian Philosophy-Past and Future*), page-375.
2. इस अस्पष्टता की एक पाश्चात्य दार्शनिक ए. जे. एयर द्वारा स्वीकृति द्रष्टव्य है—
It is notorious that philosophers disagree not only about the truth of particular theories or answers to specific problems, but about the character and purpose of their whole activity.
3. विचारणीय—Philosophy is in some special sense an inquiry into language. How this is to be conducted, what purpose it serves, are questions which still need to be clarified.
(एयर के विचार लेख रूप में प्रकाशित उनके व्याख्यान Philosophy and Language से लिए गए हैं।)

हैं तो उस भटकाव में भारतीय विद्यार्थियों को डालने का क्या औचित्य है ? पहले उन्हें यह तय करने दिया जाय कि दर्शन क्या है, जीवन में उसका महत्त्व क्या है, तब उसे "दर्शन" कहा जाये, और तब ही हमारी समस्याओं के लिए वांछित जानकारी विद्यार्थियों को दी जाये। महज़ बुद्धि-विलास और भाषायी खेल से विद्यार्थियों का मनोरंजन कर सकने की अवस्था हमारे समाज की फिलहाल नहीं है।

प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का आजकल भारत में एक फैशन चल पड़ा है। दर्शनशास्त्र के पाठ्य-क्रम में, जहां जीवन के लक्ष्य की चर्चा का महत्त्व है, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं है। न तो मानव-अनुभूतियों और चिन्तन का सम्प्रेषण इन यथाकल्पित प्रतीकों से संभव है और न ही इस प्रतीक-तर्कशास्त्र का चिन्तन और अभिव्यक्ति पर नियंत्रण हो सकता है। तब दर्शन-शास्त्र के पाठ्य-क्रम में इसका क्या औचित्य है ? एक पृथक् विषय अथवा गणितशास्त्र के एक भाग के रूप में इसका औचित्य हो सकता है। लेकिन दर्शन गणित नहीं है। मैं प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का सामान्य जानकर भी नहीं हूं, लेकिन दो अवसरों पर श्री सरकार (जादवपुर) तथा श्री रेगे (बम्बई) के सामने मैंने इसकी उपयोगिता का प्रश्न उठाया। उन्होंने समझाने का प्रयास भी किया किन्तु मैं निःसंकोच भाव से स्वीकार करता हूं कि मैं समझ नहीं पाया। मैं समझता हूं कि (दार्शनिक) चिन्तन में उपयोगिता की दृष्टि से भारतीय प्रमाण-मीमांसा ही पर्याप्त है।

अब धर्म-दर्शन की ओर ध्यान दें। जो कुछ धर्म-दर्शन के नाम से पुस्तकों में उपलब्ध है उसका अवधारणात्मक ढांचा पाश्चात्य परम्परा से आयातित है। आयात हमेशा महंगा पड़ता है। इसलिए जब तक बाध्यता या अनिवार्यता न हो, आयात नहीं करना चाहिए। प्रचलित धर्म-दर्शन में "भारतीय" अंश, भारतीय दर्शन से अपृथक्तः सम्बन्धित है। इसे भारतीय दर्शन के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पढ़ाया जा सकता है। शेष अंश का धर्म-दर्शन से सीधे कुछ लेना-देना नहीं है। क्योंकि उसका विषय धर्म-दर्शन नहीं, सम्प्रदाय-दर्शन है। 'धर्म' शब्द का जितना दुरुपयोग धर्म-दार्शनिकों ने किया है उतना शायद राजनेताओं ने भी नहीं किया होगा। अंग्रेजी में लिखने वाले विद्वान 'हिन्दू रिलिजन', 'क्रिश्चियन रिलीजन' आदि लिखते हैं तो हिंदी में लिखने वाले 'हिन्दू-धर्म', 'ईसाई-धर्म' आदि लिखते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारतीय विद्यार्थी हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिख, इस्लाम आदि के रूपों में विभिन्न धर्मों को जानता है। इससे भारतीय समाज में विघटन की प्रक्रिया तेज़ होती दिखाई दे रही है। हिन्दू-धर्म यदि कुछ है तो उसका स्वरूप जैन, बौद्ध, सिख, इस्लाम आदि के समान नहीं है। हिन्दू-धर्म भारतीय समाज का आधार है जबकि जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, इस्लाम, ईसाई आदि सम्प्रदाय जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत आस्था से है। रिलीजन की आयातित अवधारणा को 'भारतीय' आवरण देकर भारतीय वाङ्मय के साथ अत्याचार किया गया है। धर्म-निरपेक्षता की आड़ में मनु आदि के शुद्ध आचार-परक ग्रन्थों को, रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों को ... से अलग कर दिया गया वहीं 'हिन्दू' शब्द को सम्प्रदाय-बोधक रूप में प्रचारित किया ... आज यदि सिख स्वयं को अहिन्दू घोषित करते हैं या किसी हिन्दूवाद को लोग

साम्प्रदायिक कहते हैं तो इसमें 'हिन्दू रिलिजन' जैसे कुविचारित और अविचारित शब्द और आयातित धारणाएं ही मुख्य कारण हैं।

हमारा आशय यह है कि भारतीय मनीषा के संचित ज्ञान का विस्तृत परिचय भारतीय विद्यार्थी को भारत में मिलना चाहिए। इसके लिए स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर में कुल अध्ययन-अध्यापन की अवधि का पूरा उपयोग होना चाहिए, अन्यथा भारतीय विद्यार्थी के लिए भारतीय दर्शन केवल पुरातत्त्व की वस्तु रह जाएगी। मिथ्या अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और व्यापक दृष्टि होने का प्रलोभन तथा पाश्चात्य दर्शन का अध्यापन विद्यार्थियों को मौलिक चिन्तन के सर्वथा अयोग्य बना रहा है। यह तर्क बड़ा लुभावना प्रतीत होता है कि संसार अब सिमट रहा है, संचार और यातायात माध्यमों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि चिन्तन को देश या परम्परा की सीमा में बांधकर रखना असंभव और अनुचित है। मनुष्य कभी सार्वभौमिक नहीं होता है। वह हमेशा समुदायों में बंटा और सिमटा हुआ होता है। उसके चिन्तन की व्यापकता उस परिधि के समान है जो केन्द्र से नियंत्रित होती है।[4] विच्युत केन्द्र वृत्त को बेडौल बना देता है। अतः केन्द्र या आधार को सुरक्षित रखे बिना व्यवस्थित दर्शन संभव नहीं होगा।

दर्शन की भारतीय परम्परा और दृष्टि के आधार पर जिज्ञासाओं का उठना और उन पर चिन्तन करना भारतीय दर्शन को जीवित रखने के लिए आवश्यक है। केवल थोपा हुआ, ओढ़ा हुआ या आयातित विचार वैचारिक दारिद्र्य और दासत्व के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दे सकते।

भारतीय दार्शनिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव से पहले निर्बाध रूप से विकसित होती रही है। दर्शन के भारतीय विद्यार्थी को उसका ज्ञान विस्तार से दिया जाना चाहिए ताकि उसे यह मालूम हो सके कि उसका वर्तमान समाज किस वैचारिक परम्परा की उपज है, भारतीय विद्यार्थी यह कह सके कि उसे भारतीय दर्शन का ज्ञान है। भारतीय दर्शन का अधिकाधिक अध्ययन (जिसके लिए और अधिक अवधि की अपेक्षा है, जिसके लिए पाश्चात्य दर्शन का अध्यापन बन्द करना होगा) आत्म गौरव, आत्म ज्ञान और आत्म विश्वास उत्पन्न करेगा। आत्म गौरव और आत्मज्ञान के बिना न तो व्यापक या समग्र दृष्टि का और न ही अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का कोई अर्थ होगा।

पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन-अध्यापन से भारतीय व्यक्ति और समाज को ऐसा कुछ भी हासिल नहीं होता जो उसके लिए उपयोगी हो और जो भारतीय दर्शन-साहित्य के अध्ययन से प्राप्त न होता हो। यहाँ तक कि उसे विशेषज्ञ कहलाने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में कितने भारतीय विद्वानों को पाश्चात्य दर्शन का अधिकारी विशेषज्ञ कहलाने का सौभाग्य मिला? भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में पला–पढ़ा व्यक्ति, अपनी सारी प्रतिभा और समय की बलि देकर भी, पाश्चात्य सांस्कृतिक परिवेश में

4. द्रष्टव्य Indian Philosophy–Past and Future में रमन का लेख

पले-पढ़े साधारण विद्वान की तुलना में "उन्नीस" नहीं "दस" ही कहलाएगा। लेकिन उतना ही समय वह भारतीय दर्शन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन के लिए समर्पित करे तो वह सगर्व विशेषज्ञ कहा जा सकेगा। ऐसे दर्शन को पढ़ाने का कोई औचित्य नहीं है जो भारतीय जीवन-मीमांसा में सहयोग न करे और न ही उक्त विषय के विशेषज्ञ के रूप में स्थापित ही करे। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन के अनिवार्य अध्यापन से भारतीय दार्शनिक दृष्टि का लोप होता जा रहा है। इसका परिणाम है कि समकालीन भारतीय दर्शन के नाम पर वेदान्त के कुछ आधुनिक व्याख्याकार रह गए हैं। प्राध्यापकीय दर्शन का एक बड़ा भाग आयातित समस्याओं के आयातित समाधानों को समझने-समझाने की ही प्रक्रिया बनकर रह गया है। इस प्रकार की दार्शनिक दृष्टि से भारतीय समाज क्या लाभ ले पाएगा ?

भारतीय संस्थाओं में स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के लिए पाठ्यक्रम की एक रूपरेखा मैं यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूं जिससे इस लेख के मूत्र में निहित भाव अधिक स्पष्ट हो सके।

स्नातक स्तर पर 6 प्रश्न पत्र

1. संस्कृत भाषा/प्राचीन भारतीय इतिहास
2. भारतीय संस्कृति/संस्कृत भाषा
3. धर्म-दर्शन (कर्त्तव्य शास्त्र)/मनुस्मृति
4. वैदिक दर्शन/वैदिक सूक्तों का अध्ययन
5. भारतीय न्याय-शास्त्र
6. मोक्ष-दर्शन/विश्व के प्रमुख पंथ

स्नातकोत्तर स्तर पर आठ प्रश्न पत्र

1. वेदान्त दर्शन
2. सांख्य–योग
3. बौद्ध, जैन दर्शन
4. न्याय–मीमांसा
5. भारतीय समाज-दर्शन
6. भारतीय इतिहास-बोध
7. समकालीन भारतीय दर्शन
8. दार्शनिक समस्याएं

इस तरह के पाठ्यक्रम से जहां भारतीय दर्शन का विस्तृत ज्ञान भारतीय विद्यार्थी को होगा वहीं वर्तमान समाज के अनुरूप उसके मूल्यांकन का अवसर भी मिलेगा। तब भारतीय दृष्टि में आवश्यक परिमार्जन भी हो सकेगा।

अंग्रेज़ों की दासता की अवधि में दर्शन के विद्वानों की जो पीढ़ी मैकाले-शिक्षा ने तैयार की थी उसके प्रभाव पर गंभीरतापूर्वक विचार-मन्थन कर के, मानसिक या बौद्धिक दासता के मुक्ति–हेतु वातावरण बनाने के अनेक प्रयासों की श्रृंखला की एक कड़ी के रूप में यह लेख पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा। सहमति-असहमति की तीखी प्रतिक्रिया की प्रत्याशा में विचारों को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। परामर्श-विमर्श के द्वारा विषय-विस्तार स्वतः हो जाएगा ऐसी आशा है।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग
रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर। (म. प्र.)

पुस्तक--समीक्षाएं

भक्तिदर्शन–विमर्शः, लेखक आचार्य श्री गोविन्दचन्द्र पांडेयः, प्रकाशक-संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, पृ. सं. 123, मूल्य 40.00.

भक्तिदर्शन विमर्शः ग्रंथ आचार्य गोविन्दचन्द्र जी पांडे द्वारा "पंडित बदरीनाथ शुक्ल-स्मृति-व्याख्यान माला" के अन्तर्गत दिये गए तीन व्याख्यानों का संकलन है। संस्कृत में लिखित यह ग्रंथ उन अंगुलाग्रगण्य ग्रंथों में रखा जा सकता है जो भारतीय दार्शनिक परंपरा को अतीत में अवरुद्ध और एक देश-निष्ठ परंपरा के लांछन से मुक्त कर इसे सार्वकालिक और सार्वदैशिक परंपरा सिद्ध करते हैं। पांडे जी ने विस्तृत वाङ्मय का पारायण कर यह मौलिक रचना प्रस्तुत की है। इस ग्रंथ के प्रतिपादन की शाश्वतिकता इस बात में है कि इसमें भक्ति का अनुभव, अनुभूति की सन्निधि में रहते हुए, विषय के रूप में पूर्णतः निराग्रही और असांप्रदायिक दृष्टि से विवेचित हुआ है। पांडे जी न केवल विभिन्न भारतीय धर्म-संप्रदायों के बीच ही समदृष्टिवान् हैं अपितु ईसाई और मुस्लिम संप्रदायगत भक्ति के रूपों और तद्गत अवधारणाओं के प्रति भी उतने ही समादरपूर्ण हैं। उदाहरणतः वे कहते हैं : "जिस प्रकार द्यु-लोक से झरे हुए किन्तु अन्तःस्थ रस के समान होने पर भी पृथिवी आदि के परिवेश-भेद से वनस्पतियों के आकारादि विभिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार मानव-संस्कृतियां भी स्वहृदयगत विवेक का एक ही दिव्य मूल होने पर भी साध्य-साधन को विविध रूप से कल्पित करती हैं और विविध प्रकारक पुरुषार्थों की अन्वेषिणी परंपराओं का पोषण करती हैं।" (पृ. 16) इसी प्रकार, विवेच्य विषय भक्ति होने पर भी और उसके विवेचन में युक्ति के साथ अनुभूति और अन्तर्दृष्टि का योग रहने पर भी लेखक की दृष्टि कहीं पर भी धार्मिक-पौराणिक नहीं है बल्कि शुद्ध रूप से दार्शनिक है। आगम का अनेक स्थलों पर उल्लेख है किन्तु लेखक ने आगम को स्वतःसिद्ध या ईश्वरीय वाक् के रूप में प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार "दार्शनिक प्रश्नों का समाधान आगम-प्रामाण्य से नहीं होता, क्योंकि आगमों के अर्थ व्याख्यापेक्ष होते हैं और व्याख्याएं अन्तर्गर्भ अर्थ की ख्यापक होती हैं।" (3) आगे वे पाद-टिप्पणियों में हर्मेन्यूटिक-फ़िनॉमिनलॉजी-डायलेक्टिक विधि की ओर संकेत करते हुए भक्ति-दर्शन का कार्य इस प्रकार निरूपित करते हैं : "भक्ति-दर्शन का कार्य इतिहास में प्रकट हुए

भक्ति-रूपों को देखकर उनके लक्षणों की सापेक्षता, अनैकांतिकता और सप्रसंगता पर विचार करना है। इस प्रकार भक्ति-दर्शन के तीन कार्य हैं : ऐतिहासिक अर्थ का निर्वचन, तत्त्व-निरूपण और प्रज्ञा द्वारा लक्षण-विचार।" (20) यों दर्शन किसी भी विषय पर विचार में केवल तर्क-विलास को अपनी इतिकर्त्तव्यता मानकर कृतकृत्य नहीं हो सकता, उसके लिए सर्वत्र दृष्टि और अनुभूति, प्रतिभा और श्रद्धा को भी अपना उपजीव्य बनाना अपेक्षित होता है, बल्कि अधिक उचित रूप में कहें, तर्क का इनमें प्रतिष्ठित और इनका विवेचक होना ही अपेक्षित होता है, किन्तु भक्ति जैसे विषय के लिए तो इनका महत्त्व और अधिक हो जाता है, यद्यपि पांडे जी के इस ग्रंथ में तर्क अनुभूति और 'दृष्टि' का आंचल निरन्तर गहे रहते होने पर भी उनकी तुलना में कहीं अधिक प्रमुखता में है जितना इसे उचित रूप से होना चाहिए, ऐसा हमारा विचार है। किन्तु तब भी, इस ग्रंथ के लेखक में दृष्टि, अनुभूति और श्रद्धा प्रभूत मात्रा में हैं और विचार-वितर्क इन्हीं का अवगाहन करता है। वे कहते हैं : "इस प्रकार का दर्शन उपासना-परंपरा में प्रसिद्ध प्रतीतियों का और शास्त्रीय परंपरा में उनके व्यख्यानात्मक लक्षणों का सारग्राही आलोचन है। जैसे भागवत संप्रदाय में गोपी-भाव आदि प्रसिद्ध हैं और उनकी शास्त्रीय व्याख्या रस तत्त्व से हुई है। इन दोनों की आलोचना के रूप में दर्शन उन मूल प्रत्ययों का उपयोग करता है जो चैतन्य की नानास्तरीय विधाओं में (मन, बुद्धि, संविद्) अथवा सत् में स्वरूपगत हैं। आलोचन का अर्थ भी दर्पण में अपने को देखने के समान विमर्शपूर्वक साक्षात्कार ही है। इस तरह दर्पणगत आकार की प्रतीति के समान ही विशुद्ध तात्त्विक ज्ञान ही नाना विषयों के ज्ञान में उनकी प्रामाण्य-परीक्षा के रूप में कसौटी बनता है।" (27) भक्ति-विषयक दार्शनिक विमर्श का इससे अधिक उपयुक्त निरूपण अन्यत्र दुर्लभ होगा। सच बात यह है कि इसे थोड़े परिवर्तन के साथ दार्शनिक विमर्श मात्र का ही मानक निरूपण कहना चाहिए। किन्तु यहां इसके अतिरिक्त उद्बोधक उपमा का विदग्ध सौष्ठव भी द्रष्टव्य है, जैसा सौष्ठव इस कृति में प्रायः सर्वत्र मिलता है।

इस प्रकार "स वै पुंसां परो धर्मः" शीर्षक इस प्रथम अध्याय में भक्ति-दर्शन के स्वरूप का विवेचन कर पांडे जी ने "सत्यं परं धीमहि" शीर्षक दूसरे अध्याय में परं सत्य के साक्षात्कार के रूप में भक्ति के स्वरूप पर विचार किया है। इस प्रसंग में उन्होंने ज्ञान और सत् के स्वरूप पर और इस क्रम में ईश्वर के अस्तित्व विषयक युक्तियों पर अत्यन्त सार–ग्राही और अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर उन युक्तियों की अनुपयुक्तता दिखायी है जो जगत् के अस्तित्त्व और उसकी रचना में लक्षित कौशल आदि पर आधारित है। तब वे ईश्वर के 'अस्तित्व' और उसके 'ज्ञान' के सम्बन्ध में जो प्रतिपादन करते हैं उसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। यद्यपि इस प्रतिपादन में सिद्धान्त रूप में कोई नावीन्य नहीं है किन्तु जिस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है वह युक्ति-क्रम, विचार-क्रम और उसके साथ आनुभूतिक तादात्म्य के द्वारा अद्भुत् नावीन्य ले लेता है। व्यवहार और परमार्थ आदि के स्वरूप का युक्तितः विवेचन करने के उपरान्त वे बुद्धिमूलक अर्थों का विवेचन करते हुए कहते हैं : "कुछ लोग यहां सन्देह करते हैं कि यह उत्कर्ष तो ज्ञान ही का होता है, केवल

संभाव्य अर्थ का नहीं। चित्रकार की प्रतिभा, अथवा गणितज्ञ का ज्ञान, अथवा श्रेयस् की प्रतिपत्ति ये सब ज्ञान-रूप से ही साध्य का निर्देश करते हैं, अपने विषयों के स्वतंत्र अस्तित्व का नहीं। प्रतिभा-विषय अथवा विकल्प-विषय किस प्रकार की वस्तुता का आश्रयण करते हैं इसे लेकर बहुत से परस्पर विरोधी मत हैं। बुद्धिगम्य तत्त्वों में सत् का उत्कर्ष होता हो या अपकर्ष सत् के नियामक धर्म का बोध तो उसके द्वारा ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञान सूक्ष्म होता जाता है उसी अनुपात में प्रत्यय भी सूक्ष्म होता जाता है और उसके विषय का उससे पार्थक्य भी क्षीण होता जाता है। उसमें बुद्धि द्वारा निर्धार्य आकार ही ज्ञेय विषय के रूप में आगे आते हैं। वे ज्ञानमात्रनिष्ठ होते हुए आन्तर, अनान्तर अथवा अबाह्य किसी अभौतिक तत्त्व–लोक अथवा भाव-लोक में व्यवस्थित होते हैं या कि बाह्य तत्त्वों के संकेत मात्र होते हैं, यह निर्धारित करना दुस्साध्य है। किन्तु तब भी, तत्त्व बुद्धि के निकटवर्ती होते हैं यह बात तो विवादास्पद नहीं ही है। इस प्रकार प्रत्यक्षगत और कर्म-प्रधान बाह्यार्थ विषयों के जगत् को छोड़ कर और बुद्धि में आरूढ़ होकर ही तत्त्वों का ज्ञान होता है जिससे प्रत्यक्षगत जगत् का वस्तुत्व भी पुनर्व्याख्यायित और अधिक विशद रूप में अवगम्य बनता है। बुद्धि भी तत्त्व-सोपान का क्रमशः आरोहण करती हुई जो परम तत्त्व को अधिगत कर विश्राम–लाभ करती है वही सत् का परम रूप होता है, ऐसा समझना चाहिए।····अपने विषय की अवधारणा में बुद्धि सर्वत्र ही उपरोत्तर स्वतंत्र होती चलती है, वह प्रत्यक्षगोचर विषयों की अवहेलना करके भी प्रत्यक्ष द्वारा प्रदर्शित विषयों को लिपि के समान संकेत रूप में देखती हुई उसमें निगूढ़ पारमेश्वरी सत्ता को उद्घाटित करती है।" (66) तब इस क्रम में वे जगत्-रचना से "ईश्वर के अस्तित्व के अनुमान के सम्बन्ध में कहते हैं: "इस प्रकार विश्व के हेतु के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का साधन विश्व-तत्त्व का विचार ही ठहरता है। (67)" और इसी प्रकार 'ईश्वर का सत्यत्व जगत् के सत्य होने के अधीन सिद्ध नहीं होता बल्कि जगत् का सत्य होना ही ईश्वर के सत्यत्व के अधीन सिद्ध होता है। वास्तव में सत्यत्व न तो प्रत्यक्ष का विषय होना है, न सत् के योग्य होना, और न ही व्यवहार के अनुरूप होना है। क्योंकि इन सब में भी सत्यत्व की प्रतिपत्ति अपेक्षित ही रह जाती है। सत्यत्व-प्रतीति अनुभव मात्र में ही सहज होती है और अवार्य दोष का दर्शन होने पर 'यह विश्वसनीय नहीं है' ऐसा जान कर मिथ्या ठहराई जाती है।··········इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा व्यवहार-विषयों की अपारमार्थिकता और उनके ज्ञान की अज्ञानरूपता को समझते हुए भक्ति-विषय का सत्य व्यवहार-विषय के विपर्यय से ही अवधारणीय होना चाहिए।" (68) इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को युक्तियों से सिद्ध करने के प्रयत्न की अपार्थकता और उसके ज्ञान को अनुभूति और प्रतिभामूलक और अस्तित्व को साक्षात्कारगम्य दिखा कर पांडे जी भक्ति के प्रसंग में द्वैतवाद, अद्वैतवाद या द्वैताद्वैतवाद आदि को भक्त की अभिवृत्ति–सापेक्ष अवधारणाएं प्रतिपादित करते हैं: (वास्तव में)' "भक्ति का विषय भक्त की चित्त-भूमि के अनुरूप ही होता है और उसकी अनुभूति में प्रकाशित होता है। कर्म-लक्षणा भक्ति अनायास ही अभेद को आलंबन बनाती है, भावात्मिका भक्ति पारमार्थिक अथवा आहार्य द्वैत को अवलंबित करती है, ज्ञान-लक्षणा भक्ति अभेद ही का सहज आश्रयण करती है।

पुनः भावात्मिका भक्ति भेदाभेद-प्रतीति को पुष्ट करती है : क्योंकि भाव पूर्ण भेद अथवा पूर्ण अभेद को स्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रकार आहार्य द्वैत अद्वैत से भी अधिक सुन्दर कहा गया है उसी प्रकार (आहार्य) अद्वैत के लिए भी कहा जा सकता है, क्योंकि भाव-प्रवाह में उभय भाव देखा जाता है।" (68) और इसके अनन्तर भक्ति में ज्ञान के स्थान, अथवा कहें ज्ञानलक्षणा भक्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं "जो कोई शंका करते हैं कि भक्ति के प्रति ज्ञानी उदासीन होते हैं, वे भ्रांति में ही है। क्योंकि ज्ञान अनात्म विषयों के प्रति ही तटस्थ होता है, आत्म विषय में ऐसा नहीं होता। ज्ञानियों का भक्ति-विषय परमात्मा ही होता है।" (68) और तब इस अध्याय के अन्त में वे निष्कर्ष रूप में कहते हैं "भक्ति का विषय ऐसा जगत्कर्त्ता नहीं होता जो जगत् जैसी सत्ता रखता हो बल्कि जगत् में आभासमान् वह पुरुषोत्तम है जिसका लक्षण निरतिशय सच्चिदानंदमय होना है। यह लक्षण श्रद्धा और विश्वास के साथ आगम की सहायता से तथा महात्माओं के संग से जाना जाता है। और फिर समय पाकर अपनी उपासना के द्वारा उसका साक्षात् अनुभव होता है।" (69)

तीसरे और अंतिम व्याख्यान का शीर्षक है "पुरुषान्न परं किंचित्।" इस व्याख्यान में परं पुरुष की साधना के मार्गों के वैभिन्न्य और अभेद की व्याख्या है। उदाहरणतः भक्ति में कर्म और ज्ञान के स्वरूप का विवेचन कर वे कहते हैं : "वस्तुतः तो कर्म और ज्ञान के आत्यन्तिक विरोध को मिटाती हुई और उन्हें जोड़ती हुई भक्ति ही अध्यात्म योग का अविच्छिन्न सूत्र प्रतीत होती है। कर्म में योग के रूप में जो चित्त का निबन्धन है वही ईश्वर-परायण भाव में भक्ति कहा जाता है। ज्ञान भी ईश्वर को प्रकाशित करता हुआ उसकी प्रियता को भी प्रकाशित करता है और इस प्रकार वह भक्ति का अर्थान्तर मात्र ही होता है।" (91) आगे वे तर्क से तत्त्व की अगम्यता दिखा कर कहते हैं : "वास्तव में भक्ति-विषयों में भक्ति ही प्रमाण होती है। वह जब अपने विषय के आश्रय का अवगाहन करती है तो वही भगवान् और भक्त दोनों का रूप प्रकाशित करती है।" (98) किन्तु आगे वे इस पर पूर्वपक्ष में दो आपत्तियां उठाते हैं। एक यह कि भाव चित्त को उपरक्त और इस प्रकार मलिन बनाता है, और दूसरी यह कि भाव अपने विषय को सहजतः यथेष्ट कल्पित कर अवरुद्ध करता है और इस प्रकार वह ज्ञान से, जो विषय का प्रमाण-पुरस्सर अनन्त गवेषी होता है, नितान्त भिन्न होता है। इन आपत्तियों का निराकरण करते हुए वे कहते हैं : "भाव भी वस्तु-प्रतीतियों के समान अनेक भूमिक होते हैं और उसी प्रकार न्यूनाधिक रूप में विश्वनीय होते हैं। यदि रजस् और तमस् गुणों से अभिभूत भाव विभ्रामक और मोहजनक होते हैं तो सत्त्वप्रधान भाव स्वार्थहीन और सत्यप्रतिष्ठ होते हैं।" (102) और दूसरी आपत्ति का निराकरण करते हुए वे कहते हैं : "अपने अनुरूप विषय की कल्पना करते हुए भाव के लिए भी अनेक संभाव्य आकारों में से युक्ततम का अन्वेषण करना अनिवार्य होता है। रम्यत्व की कल्पना करता हुआ कामी यक्ष के समान जिन रूपों को उपदर्शित करता है वे स्वच्छन्द रूप से रचित होने पर भी नित्य सौन्दर्यात्मक रूप को ही उद्भावित करते हैं।" (102) इसी क्रम में वे आगे कहते हैं : "जिस प्रकार कर्त्ता के देहेन्द्रियादि के पारतंत्र्य से आच्छन्न होने पर भी कर्म के द्वारा उसके आत्मा

का स्वातंत्र्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार भाव के द्वारा एषितृत्व का अभीष्ट प्रियत्व, उसके काम्य विषयों से आवृत रहने पर भी, प्रकाशित होता है। भाव के पुरुषार्थ से इसी सम्बन्ध को आज के चिन्तक भाव का मूल्य-समर्पक होना कहते हैं। मूल्य क्या है ? जो मूल भाव के स्वरूपतः योग्य होता है, अथवा जो सब कामना-योग्य भावों का मूल होने के योग्य होता होता है। इस प्रकार प्रथम स्तर पर विषयमात्रगत भाव सत्तात्मक या क्रियात्मक होता है; दूसरे स्तर पर बुद्धिमात्र गोचर तात्त्विकाकार, और तीसरे में सविशेष आत्मानुभूति ही (सत्तात्मक या क्रियात्मक होती है।) इनमें से जो विवेकयुक्त और समुज्ज्वल होता है वही भाव भक्ति के उपयुक्त होता है। विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ वही भाव परमार्थ स्वरूप को गोचर करता है क्योंकि विशुद्ध भावशालिनी बुद्धि सहज प्रतिभा से भिन्न नहीं है।" (104)

इसके बाद पृष्ठ 106 से अन्तिम पृष्ठ (117) तक पांडे जी ने रस-तत्त्व का अत्यन्त मौलिक, सूक्ष्म और सार-गर्भित विवेचन कर भक्ति को एक स्वतंत्र और उत्कृष्टतम रस प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं : "अन्त में हम कहना चाहेंगे कि प्रेम ही को परमार्थ की अध्यात्म-साधना के रूप से गृहीत होने पर भक्ति कहा जाता है। प्रेम-तत्त्व नित्य होने पर भी साधन-संस्कृति-संप्रदाय में विवर्तित होता है। काम एकाकी आत्मा को मानो शून्य के बन्धन से मुक्त करता हुआ रमण कराता है। आरंभ में सृष्टि का उन्मीलन करता हुआ और प्रतिक्षण उसको नवीन बनाता हुआ यह काम ही इस व्यक्त विश्व का मूल है। लौकिक पुरुष को भी आरंभ में सृष्टि का उन्मीलन करता हुआ और प्रतिक्षण उसको नवीन बनाता हुआ वह काम ही इस व्यक्त विश्व का मूल है। लौकिक पुरुष को भी आरंभ में उसके दैहिक पार्थक्य से निकालकर कौटुंबिक और सामाजिक विश्व का सृजन करता है और उसके नित्य नावीन्य का हेतु बनता है। अन्त में पुरुष को उसके अहंकार-कोश से और अविद्यान्धकार मय गुहा से मुक्त करता हुआ उसे परमात्मा के साथ अद्वय भाव में स्थापित करता है जो कि भूमा का विश्वात्मा-मंडल है। इस प्रकार पारमार्थिकी भक्ति प्रेम या काम की ही भागवती शक्ति है जो कि सब अध्यात्म-साधनों में उनके सार के रूप में निहित होकर विश्व-कल्याण के लिए प्रवर्तित होती है और मानव-तन में आश्रित परम् पुरुष को प्रतिपन्न होती हुई सब भूतों में उसी अव्यय भाव का क्रमशः उन्मीलन करती है। (117)

पिछले बहुत समय से मेरा पांडे जी के साथ ऐकमत्य जैसा रहा है, किन्तु तब भी कुछ पद-प्रयोग-भेद, कुछ व्याख्या-भेद रहा है। उनकी कुछ दूसरी पुस्तकों और लेखों पर लिखते हुए मेरी उनसे मतभेद-प्रतीति का यही कारण रहा है। किंतु इस पुस्तक में एक शब्द भी ऐसा नहीं है जिससे मैंने अपना ऐकमत्य नहीं पाया हो। अभी कला-विषयक उनकी दो पुस्तकों[1] में प्रतिपादित विचारों पर मैंने एक लेख लिखा[2] और उनमें एक (सौन्दर्य-बोध और कला) की

---

1. 'मूल्यमीमांसा,' अध्याय 7, (सौन्दर्य-बोध और कला) तथा 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर,' अध्याय 4 (रसो वै सः) द्रष्टव्य।
2. कला का अन्वेष्य–2. यह लेख उन्मीलन के आगामी अंक में प्रकाशित होगा।

मानो मूल दृष्टि को ही अस्वीकार किया। यह लेख अभीप्रकाशित भी नहीं हुआ था कि पांडे जी की यह पुस्तक मिल गई।इसमें रसविषयक उनका निम्न प्रतिपादन मेरे उस प्रतिपादन के शब्दशः अनुरूप है जिसके आधार पर मैंने पांडे जी के उपर्युक्त दो लेखों के कुछ प्रतिपादनों से अपना मतभेद पाया था। मेरे मत का प्रतिपादक लेख इसी अंक में पीछे देखा जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में पांडेजी रस के सम्बन्ध में कहते हैं : "रस केवल मनोरंजन मात्र या काल्पनिक सुखास्वाद मात्र नहीं है, न लौकिक भाव के अनुसारी मन द्वारा विषयास्वाद अथवा स्वाभाविक या चिदानंदात्मक आस्वाद ही है। वह भाव द्वारा व्यंग्य सत्य का साक्षात्कार अथवा आत्मा का अवभास है।............जिस प्रकार दार्शनिक सत्य मूल प्रतिपत्ति के अधीन और तर्कान्वित होता है उसी प्रकार रसानुभूतिगत सत्य भाव-समाश्रित तथा व्यंजना-व्यापार से अन्वित होता है। प्रतिभा द्वारा साक्षात्कृत भाव-सत्य की अनुभूति ही रस है और यह वाद तत्त्व-दर्शन के विवादों से निरपेक्ष है।" (112–13)

जहां तक हमें ज्ञात है, भक्ति पर इस प्रकार की तर्क-निष्ठ-अनुभूति-समन्वित दार्शनिक कृति दूसरी कोई नहीं है। यह एक अत्यधिक उत्कृष्ट दार्शनिक रचना है। पांडेजी ऐसे दुर्लभ विचारकों में अग्रगण्य हैं जिनमें उद्‌भट विद्वत्ता के साथ सृजनात्मक विचार-क्षमता भी है। इस पुस्तक में उन्होंने भक्ति और दर्शन विषयक विशाल वाङ्‌मय को पृष्ठभूमि में रखते हुए जो तर्क, प्रतिभा और अनुभूति-परिप्लुत दार्शनिक कृति प्रस्तुत की है उसकी प्रशंसा में कोई भी शब्द अल्पोक्ति ही होंगे। इस पुस्तक का अनुवाद यथाशीघ्र कम से कम सब भारतीय भाषाओं में होना चाहिए और इसे विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर स्तर पर पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिए।

यशदेव शल्य

समाज : दार्शनिक परिशीलन, ले यशदेव शल्य, प्रकाशक रावत पब्लिकेशन्स, (जयपुर, दिल्ली), VII+181, मूल्य : 165=00.

प्रथम दृष्टि में तथा सामान्य रूप से यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि हम समाज में रहते हैं, हम तथा हम जैसे अन्य व्यक्तियों का समाज में समावेश होता है—वे चाहे हम से पहले हुए हों, वर्तमान में हों अथवा भविष्य में उत्पन्न होने वाले हों। समाज हम पर अंकुश रखता है, हमें समाज का भय रहता है, और कभी-कभी हम समाज के प्रति विद्रोह भी करते हैं। परन्तु यह 'समाज' क्या है ? मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' कहा गया है, परन्तु 'सामाजिक' से क्या समझें ? ये प्रश्न विभिन्न शास्त्रों में, विशेषकर समाजशास्त्र में अन्वीक्ष्य है, परन्तु दर्शन में इन पर अवधारणामूलक दृष्टि से विचार होता है। अवधारणामूलक अन्वीक्षण किसी आदर्श निरूपण का स्थान ले सकता है, अथवा वह किन्हीं न्यूनतम शर्तों की तलाश हो सकता है जिनके द्वारा अथवा जिनके आलोक में 'समाज' की अवधारणा को अभिव्यक्ति दी जा सकती है। बहुधा समाजशास्त्री अपने अन्वीक्षण को दार्शनिक दृष्टि से मुक्त नहीं रख पाते। परन्तु दार्शनिक चिन्तन देश-काल-सन्दर्भ मे नितान्त विहीन हो, ऐसा भी नहीं होता। दार्शनिक परिशीलन की एक प्रमुख दिशा अधिष्ठान, आधार, औचित्य की खोज तथा उसका युक्तियुक्त प्रतिपादन रही है। यह ध्यातव्य है कि अधिष्ठान की तलाश को बहुधा शंका की दृष्टि से देखा गया है, तथा वर्तमान चिन्तन में तो यह शंका विचार का एक सशक्त स्वरूप है।

प्रचलित संशयवादी वृत्ति से अप्रभावित तथा अधिष्ठान-अन्वीक्षण की सुदीर्घ दार्शनिक परम्परा में ही शल्य जी समाज का दार्शनिक परिशीलन प्रस्तुत करते हैं। उनकी विचार-प्रणाली, प्रथम एक आधार को सुनिश्चित करने तथा फिर उस आधार को ध्यान में रखते हुए सम्बन्धित अवधारणाओं की निष्पत्ति में सक्रिय होती है। इस दृष्टि से 'समाज' का मूल उनकी सत्ता-मीमांसा में प्रतिष्ठित है। यहां उनके द्वारा अभिप्रेत 'सत्' तथा 'अस्तित्व' का भेद ध्यान में रखना सुविधाजनक होगा। 'अस्तित्व' जो अभिव्यक्त है, तथ्यात्मक है, संवेद्य है, परिमेय है तथा ग्राह्य है, उसका वाचक है। 'सत्' का संकेत जो जगत् के परे है, उसका अतिक्रम करता है, उसे आधार देता है अथवा उसके औचित्य का निर्धारक है, उस सब की ओर होता है। विचार-जगत् में ये अवधारणाएं क्लासिकी अवधारणाएं कही जा सकती हैं,

परन्तु इनमें सन्निहित वैचारिक कठिनाइयाँ भी वैचारिक विकास के लिये चुनौतियाँ रही हैं। किसी सीमा में शल्य जी के समाज में भी हम उनसे टकराते हैं।

सामान्यतया समाज को व्यक्ति-समुदाय अथवा उस समुदाय से कुछ अतिरिक्त के रूप में देखा जाता है। शल्य जी की समाज की अवधारणा इस 'अतिरिक्त' के अधिक निकट है। यह एक रोचक तथा संभवतः एक रचनात्मक दिशा है जो उन्हें समाज तथा व्यक्ति दोनों को समझने में मनुष्य के आत्म-चेतन रूप की ओर ले जाती है। उन्हीं के शब्दों में "समाज और व्यक्ति दो मनुष्य-मूलक सत्ताएं हैं। 'मनुष्य' पद चित्त के आत्मचेतन स्तर का वाचक है। 'आत्म चेतन' पद में 'आत्म' पद वैयक्तिक आत्म-प्रत्यय (अहं प्रत्यय) का वाचक नहीं होकर चेतना की आत्मोन्मुखता (प्रत्यङ्मुखता) का वाचक है।"–पृष्ठ 4–5। इस आत्मोन्मुखता के कारण व्यक्ति एक ओर विषयी रूप में स्थापित होता है तो दूसरी ओर उसके विषय बनने की संभावना भी बनती है। अपनी किसी भी चैत्त अवस्था के विषय में स्मरण, उसके विषय में किसी अन्य को बताना, अथवा स्वयं सोचना तभी संभव होता है जब वह अवंस्था एक सामान्य के रूप में प्रत्ययवत् भासती है। प्रत्ययवत् विषयों की "यह सामान्यता समाज की संभावना की आधार बनती है।" पृष्ठ 5।

इस बात को शल्य जी वस्तुओं के प्रत्यक्ष के उदाहरण से और स्पष्ट करते हैं। जब कोई किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करता है तो उसका प्रत्यक्ष वस्तु के किसी एक परिप्रेक्ष्य को प्रकट करता है। शल्य जी का मानना है कि यह परिप्रेक्ष्य उसी बिन्दु से अन्य प्रेक्षक को भी उपलब्ध होता है। इसी उपलब्धि की संभावना से वस्तु का निर्देश किसी अन्य को ग्राह्य होता है तथा इसी ग्रहण के कारण वस्तु के निर्देश अथवा कथन को प्रामाणिकता प्राप्त होती है।

वस्तु के विषयगत प्रत्यक्ष की संभावना, उसी के सदृश अपनी चैत्त अवस्थाओं का विषयत्व **"मैं"** को एक सार्वनामिकता प्रदान करता है "मैं' की यह सार्वनामिकता, आत्म-प्रत्यय की सामान्य विषयता, व्यक्ति को स्वरूपतः सामाजिक, अथवा कहें संस्कृति-मानव की एक अभिव्यक्ति बना देती है।"—पृष्ठ 6। समाज अथवा संस्कृति-तत्त्व का समावेश किन्हीं मूल्यों का अव्यक्त रूप में निर्देश करता है। व्यक्ति के विषयित्व की सामान्यता में 'निरहंकारता', 'विवेक' आदि को समाहित कर मनुष्य की उस आत्म-चेतन स्थिति में उन मूल्यों का अधिग्रहण हो गया है जो संस्कृति तत्त्व की अभिव्यक्ति को तथा समाज के स्वरूप को उद्घाटित होने का अवकाश देते हैं। यहां यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति के विषयत्व की तथा तज्जन्य सामान्यता क्या अनिवार्यतया निरहंकार मूलक है? तथा क्या निरहंकार की उद्भावना विवेक की अवधारणा की अनिवार्य अनुषंगी है? स्व की व्याख्या अथवा समझ में अन्य के अनिवार्य समावेश को स्वीकार करने पर भी यह निष्पन्न नहीं होता कि स्व अन्य के प्रति उस चिन्ता से भी उत्प्रेरित होता है जो सामाजिकता का तत्त्व है।

समाज के स्वरूप की अभिव्यक्ति में संस्कृति की अन्तरंग भूमिका है। शल्य जी संस्कृति को "समाज की आत्मा" कहते हैं। दूसरी ओर वे श्री अरविन्द के मत को भी

उद्धृत करते हैं, जिसके प्रति उनका आकर्षण स्पष्ट है, यथा "संस्कृति मनोमय जीवन का स्वयं उसके अपने ही लिए अनुशीलन है।"—पृष्ठ 12। कोषों के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि शल्य जी के समाज सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति को एक रोचक तथा सहायक आलम्बन प्रदान करती है।

आत्मचेतन चित्त के द्वारा किसी भी विषय पर अधिष्ठातृत्व की स्थापना उस विषय को एक सांस्कृतिक मूल्य से समन्वित कर देती है। यह बात अलग है कि विभिन्न कोषों से सम्बन्धित होने के कारण इन विषयों को एक स्तर-भेद में व्यवस्थित देखा जा सकता है। यथा "जैव नियोजन में भी अन्वेष्यार्थ आत्म-सम्बद्ध, अथवा कहें अहं-विषयक ही होते हैं, केवल यह आत्मा देह और निम्न भौमिक चित्त के स्तर का होता है और परिणामतः इसके अर्थ भी इसी स्तर के होते हैं।"—पृष्ठ 13।

अर्थों का सन्दर्भ विषय-विषयक भी होता है, उदाहरणार्थ काम-वासना का शृंगार-रसमूलक कला-सर्जन अथवा ईश्वराराधन के रूप को ग्रहण करना। चाहे ये अर्थ-सन्दर्भ आत्म-विषयक हों अथवा विषय-विषयक, ये दोनों ही चेतना से सम्बद्ध रहते हैं, वे उसकी अभिव्यक्ति अथवा अवतरण हैं। यहां यह स्पष्ट नहीं है कि शल्यजी मनोविश्लेषणवादी व्याख्या को इतने निर्विवाद रूप में कैसे स्वीकार कर जाते हैं।

मनोमय आत्मानुशीलित जीवन की दृष्टि से संस्कृति के अर्थ को सीमित करते हुए, शल्यजी समाज की आर्थिक व्यवस्था, राज्य प्रशासन, दंड-संहिता आदि को आत्म-चेतन-व्यापार की अर्थ-अभिव्यक्ति मानते हुए भी संस्कृति से अलग रखते हैं, तथा उन्हें दैहिक मूल्यों अथवा लौकिक जीवन की व्यवस्था से जोड़ते हैं। परन्तु इन दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है जिसे कदाचित् साध्य तथा साधन के सम्बन्ध के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार यदि कोई व्यवस्था विशेष सांस्कृतिक साध्यों की उपलब्धि में बाधक बने तब उसे बदलने का उद्यम उसे आत्मानुशीलन का विषय बना देगा।

इस सन्दर्भ में शल्य जी संस्कृति तथा सर्जन को लेकर एक रोचक प्रसंग उठाते हैं। व्यक्ति का कृतित्व, कलाकार अथवा चिन्तक के रूप में, अभिनव सर्जन में होता है, तथा "संस्कृति का कृतित्व अवधारण और निग्रह में।"—पृष्ठ 15। ऐसा कर वे सांस्कृतिक विधाओं में वैयक्तिक तथा सांस्कृतिक भूमिकाओं का भेद कर लेते हैं। परन्तु इससे एक निष्कर्ष यह प्राप्त होगा कि स्वयं "संस्कृति" में कुछ जीवन्त अथवा गत्यात्मक नहीं होगा, वह सांस्कृतिक कर्म को स्थिर करने में सक्षम होगी उसे गति देने में नहीं। इस तथ्य से इस बात की व्याख्या तो संभव होगी कि कोई संस्कृति अपने अवसान को कैसे पहुँचती है, परन्तु यदि संस्कृति में किसी नैरन्तरिक तथा नित्य प्रवाही तत्त्व को लक्ष्य करना चाहें तो सफलता नहीं मिलेगी। यह ध्यातव्य है कि शल्यजी इस नैरन्तरिक तत्त्व में विश्वास करते हैं।

कदाचित् इस नैरन्तरिक तत्त्व का उपयुक्त काया में अवतरित होना, एक प्रकार से इतिहास में अभिव्यक्ति लेना है। शल्यजी इतिहास के विषय के रूप में घटनाओं अथवा उनके

किसी क्रम को प्रमुख न मानकर उन प्रवृत्तियों, चरित्रों को आधारभूत मानते हैं जो "घटनाओं को एक संस्थान–सूत्र," अथवा किसी "कथा-प्रसंग" में व्यवस्थित करते हैं।—पृष्ठ 35। ये सूत्र इतिहासकार की कल्पना नहीं होते अपितु ठोस, प्रत्यक्षगम्य और कारण-कार्यात्मक वस्तुओं अथवा घटनाओं को बिना इनका आश्रय लिए न तो ग्रहण किया जा सकता है और न समझा जा सकता है। "इतिहास सामाजिक चेतना का घटित होना है और इतिहास-लेखन इसका आकलन करना।... चेतना का घटित होना विषयी का क्रियान्वित होना और अपने उपयुक्त काया में अवतरित होना होता है : जैसे भाषा, छंद, नृत्य, गीत, मूर्ति, चित्र आदि-आदि।"—पृष्ठ 35। ऐतिहासिक आकलन कथा-साहित्य के स्वरूप से इस अर्थ में भिन्नता ग्रहण कर लेता है कि वह विषयिता के विषयकृत रूप से सम्बन्धित होता है जब कि कथा-साहित्य विषयिता के विषयिता तत्त्व के अवगाहन को ही साध्य बनाता है।

"समाज-मानव" के मनोमय जीवन के "आन्तर साध्यार्थ" का एक अथवा अनेक संस्कृतियों के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार करने, आत्मा में प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया को इतिहास कहा जा सकता है।—पृष्ठ 38–39। इस मत को गंभीरता से लेने पर एक निष्कर्ष यह प्राप्त होगा कि इतिहासज्ञ की स्थिति तथाकथित वैदिक ऋषि की सी होगी जो एक वृहत् एवं महान आत्म-चेतन व्यापार में स्वयं अभिव्यक्ति के एक अंग से अधिक महत्त्व का भागी नहीं होता। वह अनेक माध्यमों में से एक होगा जिसकी चेतना में इस आत्म-चेतन व्यापार को बिम्बित होते हुए देखा जा सकता है। इस दृष्टि का एक आनुषंगिक निष्कर्ष यह भी होगा कि यदि इतिहासज्ञ वैदिक ऋषि की भांति निर्मल चित्त से युक्त होगा तब वह "आन्तर साध्यार्थ" का सही प्रत्यक्ष करेगा तथा दूसरी ओर इतिहास-क्रम में कुछ भी ऐसा नहीं होगा जो इस साध्यार्थ से विपरीत दिशा ले सके। ये निष्कर्ष शल्यजी के इस मत से मेल खाते हैं कि इतिहास इतिहास-लेखकों से निरपेक्ष ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का अपना यथार्थ होता है। यदि इतिहासज्ञों में मतभेद होता है तो उसका कारण उनके पूवग्रह होते हैं।—पृष्ठ 34।

यह आदर्श व्याख्या सांस्कृतिक ह्रास तथा सामाजिक विशृंखलता को शल्यजी की दृष्टि से ओझल नहीं होने देती। वे इस ह्रास तथा विशृंखलता का कारण मनोमय जीवन की क्षीणता एवं सामाजिक प्राण के ह्रास में देखते हैं।—पृष्ठ 39। विचार की इस दिशा से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अभिव्यक्ति, क्रियान्वयन तथा सृजन के आधार में न केवल एक चेतन तत्त्व को पूर्वापेक्षित मानते हैं अपितु उसे तथा उसकी अभिव्यक्ति को संयुक्त रूप में एक मनोबौद्धिक संस्थान के रूप में भी देखते हैं जिसकी गति उत्कृष्ट तथा निकृष्ट दोनों दिशाओं में संभव है।

भाषा इस अभिव्यक्ति के अनेक माध्यमों में से एक है परन्तु सापेक्षतः वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। भावना, विचार तथा कल्पना भी चैत्त अभिव्यक्तियाँ हैं। भाषा की प्रतीकात्मकता इन्हें सम्प्रेषणीय बनाती है। इस रूप में भाषा नृत्य, संगीत आदि कलाओं के समकक्ष समझी जा सकती है। परन्तु वह कलाओं की तुलना में अधिक लोच, सूक्ष्म अभिव्यक्ति की सामर्थ्य तथा व्यापकता से युक्त होती है।—पृष्ठ 55। "आत्म-चेतन चेतना के अत्यन्त व्यापक, विविध और जटिल अर्थ" केवल भाषा के द्वारा ही वहनीय होते हैं।

सम्प्रेषण के सन्दर्भ में भाषा की चर्चा करते हुए शल्यजी कहते हैं कि वह सम्प्रेषण अथवा "चैत्त संक्रमण" का एक रूप या विधा है। स्पष्ट है कि वह चैत्त-संक्रमण दो व्यक्तियों के मध्य सम्पन्न होता है। शल्यजी इस सन्दर्भ में एक अतिवैयक्तिक दशा की बात करते हैं, जो वस्तूकरण अथवा विषयकरण की प्रक्रिया के स्वायत्त परिणामों का दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। संप्रेषण रूपी ये "चैत्त घटनाएँ धर्मों या तत्त्वों के रूप में शब्दों को आश्रित कर एक ऐसे चिद्-लोक की सृष्टि करती हैं जो देश-काल और व्यष्टि निरपेक्ष रूप से व्यक्तियों को परिवेष्टित और व्यक्त करता है। अवश्य वचन और वार्तालाप देश-काल में ही घटित होते हैं, किन्तु ये जिस अर्थ को व्यक्त करते हैं वह इस घटना तथा देश-काल पर आश्रित नहीं होता।"—पृष्ठ 66। अपने वैचारिक तन्त्र की एकरूपता को सुरक्षित रखते हुए शल्यजी भाषा को "चेतना का अत्याहांकारिक-अतिवैयक्तिक उन्मेष" बताते हैं।—पृष्ठ 68। समाज की अवधारणा के सन्दर्भ में भाषा तथा सम्प्रेषण समाज के चैत्त तत्त्व के निरूपण में आवश्यक भूमिका रखते हैं। लेखक के शब्दों में "समाज का अस्तित्व संप्रेषण-सम्बन्धों का अस्तित्व है....सम्प्रेषण-सम्बन्धों का स्वरूप सामाजिक चित्त के स्वरूप का अनुकारी होता है।"--पृष्ठ 70।

अतिवैयक्तिक चिद्लोक कोई "स्थिर वस्तु-लोक" नहीं है। विषयात्मक होना तथा देश-काल में प्रत्यक्षगत वस्तु का रूप रखना एक ही बात नहीं है। यद्यपि भाषा चैत्त अर्थों को "स्थिरता तथा वास्तविकता प्रदान करती है. यह स्थिरता और वास्तविकता सत्यावगाही सृजनात्मक चेतना के द्वारा स्थापित मार्ग-संकेतों के जैसी होती है।"--पृष्ठ 71। आत्म-प्रकाशित चेतना अपने आत्मचरितार्थन में भाषाई परिवर्तन को सर्जनात्मक रूप देती है।

भाषा सामाजिकता के एक आयाम को निरूपित करती है जबकि नैतिकता उसके एक अन्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आयाम की ओर संकेत करती है। नैतिक विवेचन में आत्म और अनात्म का विवेक "नैतिक चेतना का मेरुदंड है। आत्मचेतन चेतना का वह सर्वाधिक प्रकृष्ट, सर्वाधिक सूक्ष्म और सर्वाधिक सृजनात्मक पक्ष है। इसका सर्वाधिक मौलिक सृजन स्वयं आत्मा ही है, वह प्रतीक जिसके माध्यम से यह उस परम तत्त्व का साक्षात्कार करता है जो तत्त्व इस प्रतीक का अभिव्यंग्य अर्थ होता है। इसी प्रतीक को आधार बनाकर यह अपने में अध्युषित अनात्म को पहचानता है। किन्तु इसमें जो महत् आश्चर्य की बात है वह यह है कि यह बोध मनुष्य में उत्पन्न होता है। अत्म-चेतना में आत्म-अनात्म-विवेक का यह बोध उत्पन्न हो ही यह तर्कतः अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह बोध ज्ञानात्मक प्रकार का (स्व-प्रकाशक विषय-बोध प्रकार का) भी रह सकता है। इस ज्ञानात्मक आत्मज्ञापकता (स्व-प्रकाशकता) के ऊपर अभिमान का, अस्मिता का, बोध भी हो और यह अभिमान अनात्म से विविक्त उस आत्मा के प्रतीक के रूप में अपने को आक्षिप्त करे जो प्रतीक कर्त्ता के औचित्य को प्रमाणित करता है, यह चेतना का एक सर्वथा भिन्न आयाम है जो परम गुह्य है।"—पृष्ठ 96-7। यह उद्धरण शल्यजी के अत्यन्त सुनिश्चित, सुविचारित तथा सुनियोजित गद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण भी है, नैतिकता के तत्त्व का, एक विशेष दृष्टि से, निरूपण तो यह करता ही है। उनका मानना है कि इस गुह्यता के कारण ही प्रतीकभूत आत्मा विभिन्न संस्कृतियों में तथा एक ही संस्कृति में

विभिन्न मतों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत होता है। क्या इसके प्रतिलोम के रूप में यह भी कह सकते हैं कि ऐसे सभी विभिन्न मतों अथवा रूपों में एक ही तत्त्व सन्निहित है ?

इस उद्धरण में "अपने में अध्युषित अनात्म"—यह विचार अनात्म के मूल की ओर इशारा करता है, परन्तु साथ ही यह एक विस्मयात्मक उलझन की ओर भी संकेत करता है। 'विस्मयात्मक' इसलिए कि अनात्म आत्म में अध्युषित है, तथा 'उलझन' इसलिए कि फिर इस से अपने को पहचानने की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। शल्यजी आगे स्वयं यह प्रश्न उठाते हुए कि अनात्म क्यों है, 'अनात्म' को 'चेतना के देहावतरण' से जोड़ते हैं। यदि उनके विचार-तन्त्र के मनोबौद्धिक बिम्ब को ध्यान में लायें तब नैतिक संघर्ष मानवीय स्थिति का अनिवार्य घटक सिद्ध होगा।

यद्यपि नैतिक गुणों के प्रकट होने का अवसर समाज में ही उपलब्ध होता है, उनका स्वरूप समाज-सन्दर्भ पर आश्रित नहीं होता।...."ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, क्रूरता, लोभ, कामुकता आदि भाव अपने स्वरूप में ही कुत्सित और व्यक्तित्व-विघटनकारी होते हैं, जबकि करुणा सहानुभूति, मैत्री, प्रेम, श्रद्धा, भगवद्भक्ति, प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूतता आदि भाव स्वरूपतः उन्नायक, उदात्त और पुरस्कारक होते हैं। इन भावों के ये गुण किन्हीं बाह्य प्रमाणों से अपने को प्रदर्शित नहीं करते, आत्म-चेतन चेतना द्वारा लक्षित होने पर ये स्वतः-प्रमाण रूप से प्रकाशित होते हैं : स्वस्य च प्रियमात्मनः।"—पृष्ठ 100-101। यहाँ "लक्षित होने पर" से एक ध्वनि यह प्राप्त होती है कि मूल्य आत्म-चेतन चेतना से पृथक् एक स्वायत्त सत्ता रखते हैं। साथ ही शल्यजी की विचार-योजना के अनुसार वे चेतना के क्रियान्वयन अथवा अभिव्यक्ति-व्यापार में ही सृष्ट होते हैं। तब इन दोनों बातों को एक-साथ कैसे ग्रहण किया जाय ?

'न्याय' पर विचार करते समय शल्यजी कहते हैं "अवश्य विश्व किसी सन्तुलन पर ही अवस्थित होगा, भौतिक जगत् में यह सन्तुलन हम स्पष्टतः देखते हैं, और इससे जैव जगत् में भी हम इसके होने का अनुमान कर सकते हैं। यद्यपि इस सन्तुलन के सिद्धान्त को हम जान नहीं पाये हैं, किन्तु इस जगत् का नियम परार्थता और अहिंसा में प्रतिष्ठित है, ऐसा कहीं दिखयी नहीं देता। परार्थता, अहिंसा और न्याय नैतिक बोध हैं और नैतिक बोध का तत्त्व सहज प्राकृतिक प्रवृत्तियों का रूपान्तरण है।"—पृष्ठ 112। सन्तुलन अथवा व्यवस्था के विषय में हमारी अपेक्षा तथा दूसरी ओर जगत् में "असन्तुलन, उत्पीड़न और स्वार्थ" का व्याप्त होना "जैसा है" तथा "जैसा होना चाहिए" की दूरी का निर्देश करते हैं। इन दो छोरों को "जो है" उसी में लाने का एक उपाय उन्हें "विकास" के सन्दर्भ में ग्रहण करना है। "होना चाहिए" "जो है" उसमें अपूर्णता तथा दोष का पता देता है और इस प्रकार मूल्य एक "मूलगामी" रूप रखता है। मूल्य की यह मूलगामिता नैतिक बोध तथा न्याय का आधार कही जा सकती है। न्याय को शल्यजी कानून से व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए उसे दण्डविधान ही नहीं अपितु पुरस्कार-व्यवस्था के रूप में भी देखते हैं। कदाचित् इस अवधारणा को कर्म-संगति की एक अभिव्यक्ति कहना उपयुक्त होगा। परन्तु इस कठोर नियम-श्रृंखला को निर्विवाद

रूप में ग्रहण करने में शल्यजी अनेक कठिनाइयों की ओर संकेत करते हैं, यथा न्यायपरता तथा दयालुता में विरोध, अर्हता तथा कर्म-फल संगति के स्वरूप के प्रश्न, दंड का उद्देश्य यदि समाज-व्यवस्था की रक्षा माने तो उसमें अन्तर्विरोध आदि। इन कठिनाइयों पर विचार करते हुए शल्यजी न्याय से अधिक गहन तथा उसे आधार प्रदान करने वाले तत्त्व की दिशा में बढ़ते हैं जिसे वे एक नैतिक दृष्टि के रूप में देखते हैं।—पृष्ठ 107। न्याय की अवधारणा को समझने में बहुधा व्यक्ति की साध्यरूपता तथा मानवीय समानता की अवधारणाओं को साथ लेना आवश्यक समझा जाता है। परन्तु शल्यजी की दृष्टि में समानता तथा व्यक्ति-अनतिक्रमणीयता के सिद्धान्त एक बृहत् विचार-तन्त्र के अंग बनते हैं।—पृष्ठ 109। उन्हें व्यापक रूप में ग्रहण न करने तथा सुविधाओं के वितरण के प्रयोग तक सीमित रखने में उनसे 'न्याय' का नहीं अपितु एक व्यावहारिक आवश्यकता का पता चलता है। परन्तु यद्यपि शल्यजी का यह मानना तर्क-संगत है कि समानता तथा व्यक्ति-अनतिक्रमणीयता का एक व्यापक सन्दर्भ है, उन्हें वितरण की समस्या से नितान्त विलग रखना भी ठीक नहीं होगा। न्याय समाज में दण्ड-विधान की अभिव्यक्ति के साथ एक ऐसी व्यवस्था की ओर भी संकेत करता है जिसमें किसी अर्थ में व्यक्ति-अनतिक्रमणीयता आधारभूत होती है। यह अनतिक्रमणीयता अन्वेष्य है या नहीं यह और बात है। किसी सीमा में शल्यजी स्वयं इसे स्वीकार करते हैं जब वे कहते हैं कि न्याय उस मूल्य की रक्षा है जो "वस्तु का सत्य है—विश्व का सत्य, मानव का सत्य, समाज का सत्य और **व्यक्ति का अपना सत्य**। (रेखांकन मेरा)—–पृष्ठ 113।

राज्य एक सामाजिक संस्था है। अन्य सामाजिक संस्थाओं में यह अपने "कार्य, प्रभाव और आकार" की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली हो उठती है। इसे "समाज के आत्मनियमन के और आत्मसंरक्षण के कार्यों की संपादक संस्था कहा जा सकता है। सामाजिक आत्मनियमन के दो आयाम हैं: एक, समाज की आत्मा की अपने स्वरूप की सिद्धि, स्वधा में प्रतिष्ठा, दूसरा सामाजिक संगठन में शिथिलता और बिखराव का निवारण। पहला आयाम संस्कृति के विकास के रूप में प्रतिफलित होता है और दूसरा समाज के घटक व्यक्तियों और समूहों द्वारा सामाजिक नियमों और परम्पराओं के पालन के रूप में।"—–पृष्ठ 119–20। एक प्रकार से संस्कृति-तत्त्व के अधीन सामाजिक आत्म-नियमन ही राज्य के कार्य-क्षेत्र का निर्धारण करता तथा उसे औचित्य प्रदान करता है। मनुष्य की द्विधात्मक स्थिति, उसका एक ओर जीवधर्म से सम्बन्ध तथा दूसरी ओर उसका मानव-धर्म से सम्बन्ध, जिसमें जीव-धर्म के नियमन की सतत आवश्यकता बनी रहती है, जहाँ एक ओर नैतिक जीवन को गति देती है वहीं राज्य की सक्रियता को दिशा देती है।

व्यवहार में बहुधा ये अपेक्षाएं फलीभूत नहीं होतीं। प्रूधों की राज्य-व्यवस्था की आलोचना को उद्धृत करते हुए शल्यजी यह स्वीकार करते हैं कि वस्तु-स्थिति यह है कि अधिकांश राज्य-शासनों में विसंगतियाँ और दोष मिलते हैं। स्वयं व्यवस्थापक, जिनसे अपेक्षा होती है कि वे नागरिकों की अत्याचार तथा भ्रष्टाचार से रक्षा करेंगे, अत्याचारी तथा भ्रष्ट आचरण करते हैं। इससे कभी-कभी लगता है, जैसा अराज्यवादी मानते हैं कि, राज्य-सस्था

समाज के लिये अनावश्यक है । परन्तु शल्यजी राज्य को अनावश्यक नहीं मानते । वे उसे उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में व्यक्ति में "संकल्प" या "आत्मा" को । यदि संकल्प नहीं हो तो व्यक्ति न तो अच्छा हो सकता है और न बुरा। दूसरे शब्दों में, संकल्प होने पर ही व्यक्ति में दोनों संभावनाएं बनती हैं – बुरा होने की भी और भला होने की भी । वह बुराई की तरफ़ या तो संकल्प की निर्बलता के कारण अथवा दृष्टि-दोष के कारण झुकता है । परन्तु इस संभावना को स्वीकार करते हुए भी संकल्प से रहित व्यक्ति की कल्पना ठीक नहीं बैठती । शल्यजी के शब्दों में "अधिष्ठातृत्व होने पर ही उसमें अनैतिकता से मुक्त होने और नैतिक होने की संभावना रहती है ।"—पृष्ठ 161 । इसी सादृश्य पर "राज्य के बिना समाज संहत और नैतिक व्यक्तित्व-सम्पन्न नहीं हो सकता ।"—पृष्ठ वही । बाह्य संस्था के रूप में राज्य तभी अनावश्यक हो सकता है जब उसका तत्त्व व्यक्ति के स्वभाव का अंग बन जाय—"उसकी वासनाएं और आवेग अपने को पूर्णतः विवेक के अधीन समर्पित कर देते हैं ।"—पृष्ठ वही । शल्यजी का मानना है कि बड़ी सीमा में ऐसा गाँधी के ग्राम–स्वराज्य की कल्पना में संभव है ।

वस्तुस्थिति की दृष्टि से राज्य भी न्याय की भांति समाधान की तुलना में समस्याएं अधिक प्रस्तुत करता है । आधुनिक युग में इन समस्याओं से उबरने के लिए प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का विकल्प लाया गया तथा इस शताब्दी में अधिकांश राज्यों में इस व्यवस्था का प्रसार भी हुआ । यद्यपि जनतंत्रीय व्यवस्था के आदर्श के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण अवधारणाएं चेतना के केन्द्र में उदित हुईं, जैसे "व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, मानव-समता, सामाजिक न्याय, प्राकृतिक न्याय तथा ऐहिकतावाद" । फिर भी यह आदर्श किसी भी समाज में अपेक्षित रूप में मुखर नहीं हो सका । उसका एक कारण तो यह कहा जा सकता है कि 'जनता' का अर्थ 'समष्टिजन' नहीं होकर 'प्रतिव्यक्ति' हो गया । दूसरे, व्यावहारिक क्रियान्विति में 'प्रति व्यक्ति' भी अपना वास्तविक मूल्य खो देता है ।

सिद्धान्ततः तो व्यक्ति-मूल्य निर्विवाद प्रतीत होता है परन्तु समस्याएं तब सामने आती हैं जब 'व्यक्तित्व' के स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रश्न उपस्थित होता है । "अधिकांश लोग अत्यधिक अपर्याप्त रूप में व्यक्ति होते हैं, वे केवल सामूहिक मानसिकता के व्यष्टि-रूप होते हैं । इस मानसिकता के भी अनेक स्तर रहते हैं, सृजनात्मक-विचारात्मक से जड़ात्मक-आवेगात्मक तक ।"–पृष्ठ 131 यह वैविध्य मतदान के स्वरूप में विकृतियाँ ला देता है । 'जनता के लिये' होना प्रकट या अप्रकट रूप में राज्य का मूल रहा है, परन्तु यह अपेक्षा तभी पूरी हो सकती है "जब व्यक्ति-भेद सामाजिक प्रयोजन और राज्य-व्यवस्था के अधीन निष्प्रभाव हों और राज्य-शासन····जन-चेतना द्वारा जन-हित की व्यवस्था के अनुसार संचालित हो ।"—पृष्ठ 133 । परन्तु समाज वैयक्तिक सामर्थ्य-भेद से नहीं बच पाता । कदाचित् शल्य जी द्वारा निरूपित जनतन्त्रीय व्यवस्था का वर्तमान रूप ही इस विचार का स्मरण कराता है कि जनतन्त्रीय राज्य एक विचार है जो एक जीवन-प्रणाली का संकेत करता है, तथा यदि लोग चाहें तो उसके अनुसार स्वयं को संयोजित कर सकते हैं । व्यक्ति की आत्म-विस्थापना में उद्योगवाद,

यह स्पष्ट है कि आत्म-चेतन चेतना की अवधारणा मनुष्य के मनोमय तथा विज्ञानमय पक्ष के आलोक में समझी तथा ग्रहण की जाती है, परन्तु वस्तुतः वह व्यक्ति अथवा व्यष्टि रूप में कहीं विद्यामान नहीं है। उसके होने की बात संभव है, अर्थात् उसके सत् की बात संभव है, परन्तु उसके अस्तित्त्व की बात का कोई अर्थ नहीं होगा–ऐसी अवस्था में उसका विषयी पक्ष आग्रह्य हो जाता है। यदि हम 'विषयी' शब्द के नितान्त यादच्छिक प्रयोग को प्रचारित करना चाहें तो भिन्न बात है।

शल्य जी की पुस्तक का यह परिचय एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से अपूर्ण तथा अपर्याप्त है। समाज के सन्दर्भ में जिन विन्न पक्षों का उन्होंने स्पर्श किया है उनमें से प्रत्येक के सन्दर्भ में उन्होंने अनेक सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार किया है तथा अनेक अवसरों पर हमें एक अभिनव तथा सशक्त दृष्टि के दर्शन होते हैं। परन्तु एक संक्षिप्त परिचय अथवा समीक्षा में उन पर सम्यक् विचार संभव नहीं था। इसलिये उनके समाज-सम्बन्धी विचारों के आधार में जो एक तात्त्विक दृष्टि है, तथा जिसका अनुसरण करते हुए समाज के सभी पक्षों पर जो कठोर निगमनात्मक प्रणाली उन्होंने अपनायी है, उसका निरूपण ही मैंने इस प्रस्तुति में प्रमुख माना है।

पुस्तक की भाषा, विचार-प्रणाली तथा विषय की प्रस्तुति की शैली इस बात का प्रमाण हैं कि हिन्दी दार्शनिक चिन्तन तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिये अब तक समर्थ तथा सशक्त रूप ले चुकी है। अब वह समय आ गया है जब इस प्रकार की विचार-प्रमुख पुस्तकों का अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हो।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय
राम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय

सौजन्य से

श्री अशोक खन्ना
त्यागी वाटिका के पास
जेल वैल, बीकानेर

सांख्य–प्रज्ञा, लेखक–बो. आमेश्वर राव, पृ. सं. 127, मूल्य रु. 100=00, प्रकाशक, ग्रंथ भारती, जयपुर 1991.

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्य कारिका की नई व्याख्या करने का प्रयास किया है। उसकी मान्यता है कि ईश्वरकृष्ण भी कपिल आदि सांख्याचार्यों की सेश्वरवादी परम्परा में ही हैं तथा कारिका की निरीश्वरवादी प्रस्तुति भाष्यकारों की भ्रांत धारणा का परिणाम है।

लेखक ने कारिकाओं की पारस्परिक संगति को अपनी व्याख्या का आधार बनाया है। उसका सुझाव है कि कारिकाओं की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उनमें आपस में विरोधाभास न हो (पृष्ठ 34)। जहां पर कारिकाओं में विरोध प्रतीत होता हो वहां उनका वही अर्थ स्वीकार होना चाहिए जिससे उस कारिका की अन्य कारिकाओं से संगति बैठती हो। "जिन बातों का कारिकाओं में स्पष्टोल्लेख नहीं है उन कारिकाओं की संगति के आधार पर कल्पना की जाय।" पृष्ठ 41)

पुस्तक के चार अध्याय हैं। प्रथम में लेखक ने मुख्यतया यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सांख्य कारिका में दो नहीं वरन् तीन (प्रकृति, परमात्मा तथा जीवात्मा) अनादि तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। दसवीं कारिका में व्यक्त के जो लक्षण बतलाए गए हैं वे न केवल व्यक्त प्रकृति पर लागू होते हैं बल्कि वे व्यक्त जीवात्मा पर भी लागू होते हैं। प्रकृति तथा जीवात्मा दोनों ही व्यक्त एवं अव्यक्त अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। दोनों की ही अव्यक्त अवस्था प्रलय-काल की अवस्था है।

पुनः अट्ठारहवीं कारिका जीवात्मा के बारे में तथा उन्नीसवीं कारिका परमात्मा के बारे में समझी जानी चाहिए। उन्नीसवीं कारिका में जिस भेद की चर्चा है वह पुरुष तथा प्रकृति का भेद न होकर जीवात्मा का परमात्मा से भेद है। लेखक के अनुसार "उन्नीसवीं" कारिका को जीवात्मा-बोधक मान लेने पर कारिका-रचना या संकलन को अपूर्ण या विसंगत ही मानना होगा। (पृष्ठ 19)

द्वितीय अध्याय में ईश्वरकृष्ण के मोक्ष-चिंतन पर विचार किया गया है। लेखक के अनुसार सांख्य का मुख्य उद्देश्य दुःख-त्रय की निवृत्ति है। उसके अनुसार बंधन तथा मोक्ष वास्तव में जीवात्मा का ही होता है। कारिका बासठ का जो सामान्यतया अर्थ लिया जाता है कि प्रकृति ही बंधन में आती है तथा वह ही मुक्त होती है, उचित नहीं है। जीवात्मा

स्वरूपतः भोक्ता एवं कर्त्ता है। जीवन-मुक्त अवस्था में भी वह इन गुणों से रहित नहीं होता। हां, विवेक-ज्ञान के कारण वह तटस्थ एवं उदासीन हो जाने से भोक्ता एवं कर्त्ता होते हुए भी दुःखी नहीं होता। मोक्ष का अर्थ जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति नहीं है। मुक्त पुरुष भी अपने प्रारब्धानुसार पुनः जन्म धारण कर सकता है। तत्त्वाभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है। "मुक्ति अभ्यास का परिणाम है। अभ्यास जितना गहन होगा मोक्षावधि उतनी ही लंबी होगी।" इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखक के अनुसार विवेक से पुरुष कैवल्य तो प्राप्त करता है लेकिन यह ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक नहीं होता। ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक कैवल्य प्रलय-काल में ही, जब शरीर अपने कारण में लीन हो जाता है, प्राप्त होता है।" (पृष्ठ 53)

तीसरे अध्याय में ईश्वरकृष्ण की सृष्टि-मीमांसा पर विचार किया गया है। लेखक का विचार है कि ईश्वर को स्वीकार किये बिना सांख्य की सृष्टि-व्याख्या नहीं समझी जा सकती। ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही प्रकृति सर्गोन्मुख होती है। परमात्मा की प्रेरणा से गुण-क्षोभ होता है। प्रकृति को यह प्रेरणा पुरुष की सन्निधि मात्र से प्राप्त हो जाती है।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने कारिकाओं की अपनी दृष्टि से व्याख्या की है तथा उसमें यह दर्शाने का प्रयास किया है कि कारिकाएं लेखक के उपर्युक्त मत का ही प्रतिपादन करती हैं।

लेखक ने अपने मत का प्रतिपादन पर्याप्त युक्तिपूर्वक किया है। इससे लेखक की विद्वत्ता तथा तीक्ष्ण बुद्धि स्पष्ट परिलक्षित होती है। किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि लेखक इस सब प्रतिपादन से क्या सिद्ध करना चाहता है? क्या उसका आशय यह है कि ईश्वरकृष्ण की प्रज्ञा कपिलादि सांख्याचार्यों के दर्शन की पुनरुक्ति मात्र है? ऐसा कहना किसी भी परवर्ती दार्शनिक के प्रति अन्याय करना होगा। लेखक को इस सब व्याख्या के साथ यह भी बतलाना चाहिए था कि ईश्वरकृष्ण का सांख्य दर्शन को अपना क्या योगदान है तथा इस दर्शन को उसने किस प्रकार आगे बढ़ाया है? यह लेखक ने नहीं किया है। वास्तव में भाष्यकारों की व्याख्या इस भावना से ही प्रेरित थी। उनकी मान्यता थी कि सांख्य-दर्शन में ईश्वर एक अनावश्यक कल्पना है, तब क्यों नहीं दर्शन की समस्त समस्याओं को निरीश्वरवादी ढंग से सुलझाने का प्रयास किया जाय?

संभवतः लेखक यह समझता है कि सांख्य दर्शन में ईश्वर की पुनः स्थापना कर वह सांख्य को अधिक युक्तियुक्त बना रहा है। किन्तु इस दिशा में उसका प्रयास सफल नहीं कहा जा सकता। न तो उसने उन समस्याओं का ही समाधान प्रस्तुत किया है जो ईश्वर को मानने से उत्पन्न होती हैं और न ही उसकी 'प्रज्ञा' में ईश्वर को कोई सम्मानजनक स्थान मिल पाया है। तत्त्वमीमांसा में ईश्वर एक अलग इकाई के रूप में अलग-थलग सी सत्ता प्रतीत होता है जिसके सान्निध्य से प्रकृति बस प्रेरित मात्र होती है। मनुष्य की पुरुषार्थ-साधना एवं मोक्ष-प्राप्ति के लिए तो ईश्वर बिल्कुल ही अप्रासंगिक बन गया है।

जब कोई चिंतक अपनी दृष्टि से किसी ग्रन्थ को सुव्यवस्थित एवं एकत्व प्रदान करना चाहता है तो कुछ स्थानों पर खींच-तान होना स्वाभाविक है। लेखक ने भी अपने इस

यंत्रवाद तथा पूंजीवाद आग में घी का काम करते हैं। 'ग्राम-स्वराज्य' की कल्पना समाज में आने वाली विकृतियों के पूर्वाभास का परिणाम थी–कदाचित् इसीलिये कम से कम वैचारिक स्तर पर पुनः गाँधी की ओर ध्यान आकृष्ट हो रहा है। परन्तु शल्य जी के मत में 'ग्राम-स्वराज' समाज की जिस आत्मपर्याप्तता की अपेक्षा रखता है वह आज के युग की परिस्थितियों में संभव नहीं है।

धर्म को एक विशिष्ट सामाजिक तत्त्व एवं संस्था के रूप में शल्य जी इतर-लोक-विषयकता के प्रति एक उदात्त भावापन्नता कहते हैं। पृष्ठ 141। इतर-लोक अथवा अति-लोक को शल्यजी मनुष्य के स्वरूप के ही अतिलोक के रूप में देखते हैं। जातियाँ, मानदण्ड, नैतिक मानदण्ड इन सब को वे अतिलौकिक सत्ताएं कहते हैं।—पृष्ठ 148। इन्हें अतिलौकिक इसलिये कहा गया है क्योंकि ये इन्द्रियग्राह्य अथवा देश-काल-विषयक नहीं हैं।—पृष्ठ वही। धर्म का चरम साध्य सत्य का वह साक्षात्कार है जो केवल प्रतीकात्मक नहीं होता। इस साध्य की सिद्धि के लिए की गई साधना भी धर्म है तथा जो व्यक्ति साध्य को अभी प्राप्त नहीं कर पाया है परन्तु साधना में लग्न है वह भी धार्मिक है। विज्ञान, दर्शन तथा कला-साधना के क्षेत्र एक अनन्त प्रक्रिया के सूचक हैं। शल्यजी के अनुसार इन क्षेत्रों में साध्य की असाध्यता पूर्वगृहीत होती है जब कि धर्म के क्षेत्र में ऐसी कोई बात नहीं होती। –(पृष्ठ 150) न ही धर्म के क्षेत्र में ज्ञान आदि के सदृश कोई विकास-परम्परा होती है। —पृष्ठ 155।

यद्यपि धर्म किसी लोकोत्तर लक्ष्य-सिद्धि से निरूपित होता है, उसके चरितार्थीकरण में जैसे नियोजन तथा व्यवस्था की आवश्यकता होती है वह व्यक्ति पक्ष के साथ ही उसके सामाजिक सन्दर्भ का भी संकेत करती है। सामाजिकता धर्म की और धर्म सामाजिकता का उतना ही घटक होता है जितना व्यक्तिक चरित्र व्यक्तिक स्तर पर धर्म-भाव का और धर्म-भाव व्यक्तिक चरित्र का घटक होता है।.........धर्म-विहित आचार-नियम भी समाज को पूर्वकल्पित करते हैं....समाज पूर्वतः है और अपने श्रेयस् के लिए, उसमें प्रतिष्ठित रहने के लिए, एक पराशक्ति के वरद हस्त की अपेक्षा करता है... ईश्वरीय कृपा की आवश्यकता....आसुरी शक्तियों के हनन के लिए है।"––पृष्ठ 156-7। धर्म में सन्निहित सर्वकल्याण की भावना मूलतः आत्म-चेतन चित्क्रिया का प्रतिरूप है तथा अनेक में एक एवं एक में अनेक की उद्भावना को प्रकट करती है।

धर्म को अतिलौकिक अवधारणा समाज के सन्दर्भ में उन लोगों को शायद ही मान्य हो जो सामाजिक व्यवस्था के गठन और विघटन को समझने तथा उसकी व्याख्या के लिये समाज के सन्दर्भ से बाहर नहीं जाना चाहते तथा किसी अतिलौकिक सन्दर्भ को संशय की दृष्टि से देखते हैं।

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में सामाजिक परिवर्तन तथा आधुनिक भारतीय स्थिति पर विचार हुआ है। संस्कृति को शल्य जी ने समाज की आत्मा कहा है तथा उसे मनोमय माना है, अतः सामाजिक परिवर्तन का रूप उनके लिये मूलतः मानसिक प्रकार का होना

चाहिए। यह भी ध्यान रखना होगा कि आत्मा, चित्ताधिष्ठान अथवा मनोमय जीवन होने के कारण स्वयं संस्कृति में परिवर्तन की बात कुछ विचित्र होगी क्योंकि संस्कृति तो अन्ततः उन मूल्यों से परिभाषित होती है जो परिवर्तनों के बीच स्थिर रहते हैं।—पृष्ठ 160-1।

परिवर्तन की समझ किसी स्थिर की सापेक्षता में ही संभव होती है। दूसरी बात यह है कि परिवर्तन-शील पर्याय किसी रूप में उस विषय के ही घटक होने चाहिएं जिसमें परिवर्तन को समझना है। इसके अतिरिक्त किसी एक घटक में परिवर्तन अन्य घटकों में भी परिवर्तन का सूचक हो ऐसा आवश्यक नहीं है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए समाज में परिवर्तन को उसके मनोमय पक्ष की अभिव्यक्ति के विविध सोपानों में, अथवा उसके किसी एक पक्ष में बदलाव के रूप में, अथवा एक व्यापक स्तर पर जिसमें अनेक पक्षों में क्रान्ति हुई हो, देखा जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन का एक अन्य पक्ष उसके संकल्प से सम्बद्ध होने अथवा नहीं होने से है। बहुधा वांछनीयता का बोध संकल्पयुक्त सचेत चेष्टाओं की ओर प्रवृत्त करता है। इन चेष्टाओं की दिशा उत्कर्ष अथवा अपकर्ष की ओर हो सकती है जो अन्ततः वांछनीयता के आधार की समझ पर आश्रित होगी। अपकर्ष का बोध पुनः दिशा-परिवर्तन के बोध को जन्म देता है। "चेतना की जड़ता में इस परिणति का एक अनिवार्य कारण है और वह यह कि दृष्टि की अभिव्यक्ति में और संकल्प की कर्म में परिणति होना और इसकी क्रमशः विमर्श और कृति में परिणति होना अनिवार्य होता है और तब विमर्श तर्क की ओर, कर्म आनुष्ठानिक आकारिकता के सफल निर्वाह तथा कृतिपरक कौशल की ओर प्रवृत्त होता है। सत्य और जीवन के संपर्क का यह विच्छेद बहुत बढ़ जाने पर इसकी चेतना पुनः साक्षात्कार की प्रेरणा उत्पन्न करती है और तब पुनः किसी कबीर, किसी विवेकानन्द तथा अरविन्द और किसी गांधी का आविर्भाव होता है और फिर वही जड़ायन का क्रम प्रारम्भ होता है।"—पृष्ठ 168।

परिवर्तन की आधुनिक स्थिति में उसकी अत्यधिक तीव्र गति तुरन्त ध्यान आकर्षित करती है, विशेषकर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभिव्यक्ति और कर्म मानो दृष्टि तथा संकल्प को पीछे छोड़ते जा रहे हैं, यद्यपि मूलतः वे उन्हीं से सम्बद्ध हैं। परन्तु गति का अनियत होना उसे जड़ता की ओर भी ले जाता है। उपयोगवाद, व्यक्तिवाद, वैज्ञानिक-प्राकृतिक युक्तिवाद ने हमें इसी स्थिति में ला दिया है—कारण कि स्वयं इनमें से किसी में भी दिशा-बोध तथा नियन्त्रण उपलब्ध नहीं होता। पृष्ठ 169-170। सौभाग्यवश शर्मा जी वर्तमान युग को नितान्त निराशाजनक नहीं पाते। मानववाद तथा उसमें समाविष्ट सामाजिक न्याय तथा मानव-समानता के मूल्य इस "बात के द्योतक हैं कि किस प्रकार मनुष्य परमार्थ के स्वरूप-विषयक किसी भी धारणा को रखकर अपने अन्वेष्य के रूप में किसी नैतिक आदर्श का ही आक्षेप करता है। नैतिक अन्वेष्य का अर्थ है मनुष्य के स्वरूप-विषयक ऐसा मानदण्ड जो उसके कर्मों को एक आध्यात्मिक अर्थ दे, एक ऐसी आदर्श प्रतिमा दे जिसकी अनुकृति में वह अपने उपलब्ध रूप को ढाल सके और उसका रूपान्तरण करने के प्रयत्न द्वारा अपने कर्मों को अर्थ दे सके।"—पृष्ठ 170।

भारतीय सन्दर्भ में, समाज के आध्यात्मिक पक्ष का बाह्यांग समाज देवता की देह के चार अंगों : चार वर्णों : के रूप में अभिव्यक्त हुआ। गुण-कर्म पर आधारित उनका मूल रूप पहले ही विकृत हो गया यद्यपि अन्य वर्गों का समायोजन इनके उपांगों के रूप में ही हुआ। भारतीय समाज का अन्य अचल तत्त्व व्यक्ति के जीवन-साध्य के रूप में मोक्ष एवं जीवन–विधि के रूप में सन्यास स्वीकृत रहा। परन्तु यहां भी तत्त्व और अभिव्यक्ति में असमंजस की स्थिति अन्य समाजों के सदृश प्राप्त होती है। असमंजसता तथा जटिलता की यह अवस्था अनेक जातियों के बाहर से आने तथा विचारधाराओं एवं मतमतान्तरों की निरन्तर परस्पर टक्कर तथा घात-प्रतिघात के कारण और अधिक जटिल रूप ग्रहण करती है। शल्य जी का मत है कि सांस्कृतिक सन्दर्भ में "भारतीय परम्परा में निरन्तर गति दिखायी देती है, सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं के स्तर पर पिछली कई शताब्दियों से निरन्तर एक गतिहीनता बनी रही है।"—पृष्ठ 174। भारतीय इतिहास का मध्यकाल इसी गतिहीनता का सूचक है। अंग्रेज़ी शासन तथा प्रभाव का एक फल यह हुआ कि भारतीय मनीषा आत्ममनन के लिए बाध्य हुई। शल्यजी के साथ यह कहना कि इस आत्म-मनन का फल भारतीय परम्परा में कोई दोष न पाकर उसमें अधिक "अर्थ-गर्भ, अधिक संभावनापूर्ण, अधिक सूक्ष्म, अधिक उदार" तत्त्व को देख पाना था जो "सत्य के निकटतर है तथा जो मानव-चेतना का आधार और अन्वेष्य है," उन्नीसवीं तथा प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी में परंपरा के प्रति अन्वीक्षा की विविध दिशाओं को नकारना होगा। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि अनेक सुधार-प्रवृत्तियों के सूत्रधार एक ही दृष्टि तथा एक ही प्रेरणा के परिचायक नहीं थे यद्यपि कुछ सामाजिक कुरीतियों के प्रति उनमें से अनेक ने समान रूप में आवाज़ उठाई तथा आन्दोलन चलाए।

अन्त में आज की परिस्थिति के सन्दर्भ में शल्य जी का यह मत युक्तिसंगत जान पड़ता है कि आर्थिक-उपभोगात्मक मूल्य-दृष्टि और यूरोपीय जीवन-प्रणाली का आकर्षण एवं अनुकरण भारतीयों के लिए खतरनाक और अवांछनीय है। इसलिए कि वह जिस संस्कृति से सम्बद्ध है उसकी गहराइयाँ हमारे लिये नितान्त बाह्य हैं। उनमें हमारी कोई "पैठ" नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी अन्य संस्कृति से हमारे लिये कुछ ग्राह्य नहीं है, परन्तु यह तभी युक्त होगा जब हम स्वयं अपनी सांस्कृतिक परम्परा में प्रतिष्ठित हों।—पृष्ठ 177।

इस अन्तिम बिन्दु से प्रस्थान कर कुछ एक प्रश्नों की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा—क्योंकि उन प्रश्नों से शल्य जी की कृति की विचारोत्तेजकता तथा गहराई का पता चलता है। यूरोप की संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति को स्पष्ट ही हम दो भिन्न संस्कृतियों के रूप में देख रहे हैं। दोनों में से प्रत्येक में हम ऐसा कुछ भी स्वीकार कर रहे हैं जो मनुष्य के लिये एक उत्कृष्ट जीवन-साध्य के उपादान को प्रस्तुत करता है तथा उसे दिशा देने में समर्थ है। प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों संस्कृतियों को किसी एक अधिष्ठातृत्व से जोड़ना संभव है अथवा ये दो भिन्न अधिष्ठातृत्वों की ओर संकेत करती हैं? व्यक्ति तथा समाज के आधार में जिस मानवीय मूल, तथा उसमें अनुस्यूत जिस सामान्य अथवा सार्वजनीनता को लेकर शल्य जी

अपने विचार का ताना-बाना प्रस्तुत करते हैं उससे अन्ततः एक ही अधिष्ठातृत्व की कल्पना सार्थक तथा युक्ति-युक्त जान पड़ती है।

इसके साथ इस दूसरे तथ्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि शल्यजी विविधता, अनेकता, गत्यात्मकता आदि घटनाओं को किसी रूप से दैहिक-भौतिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध मानते हैं। तब क्या यह निष्कर्ष संगत होगा कि एक अधिष्ठान अनेक दैहिक अभिव्यक्तियों में प्रकट होता है ? ऐसी अवस्था में विभिन्न, विविध अभिव्यक्तियों को उत्कृष्टता की दृष्टि से भिन्न रूपों में देखने का औचित्य क्या होगा ?

अभिव्यक्ति के लोक में लगभग प्रत्येक पक्ष में वास्तविक स्थिति को ध्यान में रखते हुए शल्य जी विकृतियों तथा विसंगतियों की ओर संकेत करने चलते हैं। आत्म–चेतन चेतना को अधिष्ठातृत्व के रूप में तथा वास्तविक अथवा संवेद्य जगत् की घटनाओं को इस चेतना के क्रियान्वयन-क्रम में स्वीकार करने पर एक विचित्र बात लगती है कि विकृतियों अथवा विसंगतियाँ भी हों। यदि आत्म-चेतन तत्त्व से साध्य (वह चाहे स्वरूप-प्रकाशन ही हो) तथा उसकी प्राप्ति के साधन के स्पष्ट बोध का आशय भी लें तब कोई भ्रान्त दिशा अथवा कोई भ्रान्त सोपान हो ही कैसे सकता है ? कदाचित् इस बोध के बाद भी उपयुक्त सामर्थ्य की अपेक्षा रहती हो। परन्तु आत्म-चेतन चेतना के अतिरिक्त किसी भिन्न स्रोत में सामर्थ्य की तलाश क्या संगत होगी ?

शल्य जी के विचार की दिशा इन विकल्पों से भिन्न प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिव्यक्ति तथा चरितार्थीकरण-व्यापार की अपेक्षा के रूप में ही उन्हें 'अनात्म' की प्रतिष्ठा आवश्यक प्रतीत होती है। 'अनात्म' का अभाव अभिव्यक्ति तथा चरितार्थीकरण के प्रयास को थोथा बना देगा। परन्तु यह विकल्प उन्हें पूर्णतया स्वीकार्य है, यह सुनिश्चित रूप में कहना कठिन है, कारण कि कुछ संकेतों के अतिरिक्त उसकी स्पष्ट चर्चा नहीं हुई है।

आत्मचेतन-चेतना के अतिरिक्त शल्य जी, लगता है, एक ऐसे लोक की उद्भावना को भी स्वीकार करते हैं जो विचारों का लोक है, मूल्यों का लोक है, भाषा का लोक है तथा जिसे चिद्लोक कह सकते हैं। यदि यह निष्कर्ष ठीक है कि उन्हें ऐसे लोक की उद्भावना स्वीकार्य है, तब पुनः उनसे कुछ और प्रश्नों के उत्तर की अपेक्षा होती है। क्या इस लोक के सदस्य एक ही वर्गणा में समाविष्ट हैं ? क्या उनके सन्दर्भ में सामान्य मूल्य-प्रतिमान प्रयुक्त होते हैं—उदाहरण के लिए क्या यह मानना ठीक होगा कि कुछ विचार उत्कृष्ट हैं तो कुछ त्याज्य हैं ? अथवा इस लोक के सभी सदस्य एक–रूप उत्कृष्टता के प्रतीक हैं ? विचारों तथा मूल्यों के अतिरिक्त 'भाषा' के स्वरूप को लेकर भिन्न प्रश्न उठेंगे—उदाहरणार्थ, क्या भाषा का कोई स्थिर अथवा मानक स्वरूप है ? यदि इस सन्दर्भ में परिवर्तन, वृद्धि तथा विकास की अवधारणाओं को मान लें तब फिर इस चिद्लोक की प्रतिष्ठा दृश्य जगत् की सांसारिकता के सदृश हो जायगी, और तब उसकी अपनी सत्ता की उपयुक्तता प्रश्नात्मक होगी। चिद्-लोक की अतिरिक्त सत्ता उसके तथा आत्म-चेतन चेतना के परस्पर सम्बन्ध पर भी प्रश्न-चिह्न लगाती है।

उत्साह में कि समस्त कारिकाएं उसकी 'प्रज्ञा' का ही अनुमोदन करती हैं, कई जगह इस प्रकार की खींच-तान की है । उदाहरणार्थ व्यक्त-अव्यक्त के लक्षणों को जीवात्मा पर घटित करने के लिए जीवात्मा को दसवीं कारिका के अनुसार सावयव भी मानना पड़ा । इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए वह कहता है : "व्यक्त जगत् की सावयवता तो स्पष्ट है । जीवात्मा के अवयव हैं भोक्तृत्व, अल्पज्ञत्व, सीमितता आदि ।" (पृष्ठ 13) यहां पर 'अवयव' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग अयुक्त जान पड़ता है ।

अपने तीसरे अध्याय के उपसंहार में लेखक का दावा है कि उसकी दृष्टि ही जीवन को अधिक सार्थक एवं मूल्यवान् बना सकती है । वह लिखता है— "संसार अनर्थकारी है, मात्र दुःखमय है, मिथ्या है—ऐसा मानना और संसार से मुक्त होने की इच्छा करना पुरुष के स्वरूप से मेल नहीं खाता । इसलिए ऐसा प्रयास मनुष्य को त्रिशंकु बना देता है । ऐसे ही दर्शन के कारण भारतीय समाज की प्रगति अवरुद्ध रही है । जीवन सत्य है । जीवन का पक्ष परमात्मा की प्रेरणा से ओत-प्रोत है । इसलिए संसार को, और जीवन को सत् रूप में ग्रहण कर कर्म करने की कुशलता प्राप्त कर, स्थित-प्रज्ञ होकर भोग करना ही साध्य है । अविद्या या प्रकृति-संबंधी ज्ञान तथा विद्या या आत्म-ज्ञान दोनों ही अनिवार्य हैं । एक मृत्यु को समझकर उसके भय से मुक्त करता है तो दूसरा अमरत्व को प्राप्त कराता है ।" (पृष्ठ 53)

उपर्युक्त प्रसंग में संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन दर्शनों को ध्यान में रख कर यह बात कही गई है वह उन दर्शनों को सहानुभूतिपूर्वक गहराई से न समझने के कारण है । वास्तव में जिस सार्थक दर्शन की उपयोगिता लेखक सिद्ध करना चाहता है वह अद्वैत वेदान्त में भी उतनी ही संभव या असंभव है जितनी सांख्य-दर्शन में, चाहे उसे हम लेखक की दृष्टि से ही क्यों न समझें । लेखक ने जीवात्मा को जो स्वरूपतः भोक्ता माना है, वहां 'भोक्ता' पद का अर्थ सामान्य अर्थ से बहुत भिन्न है । वहां 'भोक्ता' शब्द द्रष्टा के अर्थ में ही लिया गया है, जैसा कि लेखक ने स्पष्टतः स्वीकार भी किया है । किन्तु इस अर्थ में तो परमात्मा भी स्वरूपतः भोक्ता ही हो जायगा क्योंकि सर्वज्ञ होने से वह द्रष्टा तो है ही । अतः लेखक का यह दावा कि उसका सांख्य भोग एवं मोक्ष दोनों मूल्यों का एक-साथ संरक्षण करता है थोथा सिद्ध होता है ।

जैसाकि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है, उसके इस प्रतिपादन में कई 'खामियां' हैं जिनकी चर्चा व निराकरण स्थानाभाव के कारण उसने नहीं किया है तथा सांख्य-विशेषज्ञों से उसने निवेदन के रूप में अपेक्षा की है कि इस विचार को आलोचना-प्रत्यालोचना के रूप में अवश्य आगे बढ़ायें ।

यह बात निर्विवाद है कि सांख्य-दर्शन भारतीय चिंतन का अत्यंत प्राचीन एवं समृद्ध संप्रदाय है । इस दर्शन की भारतीय संस्कृति पर बहुत प्राचीन काल से स्पष्ट छाप हैं । ऐसे दर्शन की अधिक से अधिक युक्तियुक्त व्याख्या प्रस्तुत करना भारतीय दार्शनिकों का उत्तर-दायित्व है । हाल ही में कुछ दार्शनिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित भी हुआ है । डा० प्रेमलता शर्मा का शोध-कार्य इसी प्रकार का प्रयास है । उसके इस विषय पर तीन लेख

भी प्रकाशित हुए हैं।[1] इन लेखों में सांख्य दर्शन की नवीन प्रकार से व्याख्या की गई है जो परंपरागत विचार-क्रम को आगे बढ़ाती है। इसी प्रकार श्री यशदेव शल्य ने भी सांख्य पर अनेक स्थलों पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है,[2] जो मननीय है। ये दोनों व्याख्याएं सांख्य को अद्यतन बनाती हैं।

नन्दकिशोर शर्मा
बी 119, मंगल मार्ग, बापूनगर,
जयपुर–302004

1. द्रष्टव्य—उन्मीलन, जुलाई 1985, में तथा परामर्श के किसी अंक में।
2 विशेषत: द्रष्टव्य उनकी पुस्तक सत्ताविषयक अन्वीक्षा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली 1988.

विषय-सूची

	संपादकीय		
1.	अद्वैत-सिद्धान्त का मूलाधार	नारायण शास्त्री द्राविड़	71
2.	कला का अन्वेष्य	यशदेव शल्य	83
3.	शल्यजी का "कला का अन्वेष्य"	मुकुन्द लाठ	99
4.	श्रुति के दो परस्पर विरोधी परंपराओं के मूल प्रवर्तक : जैमिनि और बादरायण	दयाकृष्ण	115
5.	पश्चिम में 'सैक्युलरिज़्म' की अवधारणा	सरल झिंगरन	125
6.	पाश्चात्य दर्शन का अध्यापन-औचित्य-विचार	बी. कामेश्वर राव	129
	पुस्तक-समीक्षाएं		
1.	गोविन्दचन्द्र पांडेकृत "भक्तिदर्शन-विमर्शः"	यशदेव शल्य	137
2.	यशदेव शल्यकृत "समाज : दार्शनिक परिशीलन"	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	143
3.	बी. कामेश्वर रावकृत "सांख्य-प्रज्ञा"	नन्दकिशोर शर्मा	157-160

आजीवन शुल्क :
व्यक्ति रु. 300.00
संस्थाएं रु. 2000.00

वार्षिक शुल्क
व्यक्ति रु. 30.00
संस्थाएं रु. 50.00

दर्शन प्रतिष्ठान

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, किसान मार्ग, जयपुर-302015 से प्रकाशित तथा जेक प्रिंटर्स, किसान मार्ग, जयपुर में मुद्रित ।